इस ग्रंथमालासे प्रकाशित अन्य ग्रन्थ—

				मूल्य	पॉस्टेज
१	श्री उत्तराध्ययनजी सूत्र	पृष्ट ५००	पक्की जिल्द	१)	०।
२	श्री दशवैकालिक सूत्र	,, २५०	,,	।≈	)≈
३	श्री सूत्रकृतांग सूत्र	,, १६०	,,	।≈	)≈

प्रकाशक—

श्री श्वे. स्थानकवासी जैन कॉन्फरन्स

९ भांगवाडी, वम्बई २.

प्रथम आवृति] ∴ .. ∴ [२००० प्रति

वि. सं १९९४

मुद्रक :

हर्षचंद्र कपुरचंद दोशी न्यायव्याकरणतीर्थ

श्री सुखदेव सहाय जैन कॉन्फरन्स प्रि. प्रेस.

९ भांगवाडी, बंबई नं. २

आमुख

श्री हंसराज जिनागम विद्या प्रचारक फंड ग्रंथमाला का यह चतुर्थ पुष्प जनता की सेवामें प्रस्तुत है। तीसरे पुष्प के आमुख में सूचित किये अनुसार यह पुस्तक भी 'श्री आचारांग सूत्र' का छायानुवाद है। मूल ग्रंथ के विषयों का स्वतंत्र शैलीसे इसमें सम्पादन किया गया है इतना ही नहीं मूल ग्रंथ की सम्पूर्ण छाया प्रामाणिक स्वरूप में रखने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार करनेसे स्वाभाविक रूपसे ग्रंथ में संक्षेप हो गया है इसके साथ ही विषयोंका निरूपण क्रमबद्ध हो गया है और पिष्टपेषण भी नहीं हुआ है। तत्वज्ञान जैसे गहन विषय को भी सर्व साधारण सरलतासे समझ सके इस लिये भाषा सरल रखी गई है। ऐसे भाववाही अनुवादों से ही आम जनतामें धार्मिक साहित्यका प्रचार हो सकता है।

यह ग्रन्थ मूल गुजराती पुस्तकका अनुवाद है। गुजराती भाषाके सम्पादक श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल जैन तत्वज्ञान के अच्छे विद्वान है।

श्री पूंजाभाई जैन ग्रन्थमाला की कार्यवाहक समितिने इस ग्रन्थ का अनुवाद करने की अनुमति दी, उसके लिये उनका आभार मानता हूं।

सेवक

चिमनलाल चकुभाई शाह

सहमंत्री

श्री. अ. भा. श्वे. स्था. जैन कॉन्फरन्स

बम्बई
ता. २५-६-१९३८

अनुक्रमणिका

आमुख

श्री हंसराज जिनागम विद्या-प्रचारक फंड समिति ... ग्रंथ चौथा



दानवीर श्रीमान् सेठ हंसराजभाई लक्ष्मीचन्द
अमरेली (काठियावाड)

आचारांग सूत्र

प्रथम खण्ड

पहिला अध्ययन

—(०)—

हिंसा का विवेक

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

हे आयुष्मान् जंबु! भगवान् महावीर ने कहा है कि संसार में अनेक मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं है कि वे कहाँ से आये हैं और कहाँ जाने वाले हैं। अपनी आत्मा जन्म-जन्मान्तर को प्राप्त करती रहती है या नहीं, पहिले कौन थे और बाद में कौन होने वाले हैं, इसको वे नहीं जानते। [१-३]

परन्तु, अनेक मनुष्य जातिस्मरण ज्ञान से अथवा दूसरों के कहने से यह जानते हैं कि वे कहां से आये और कहां जाने वाले हैं। यह आत्मा जन्म-जन्मान्तर को प्राप्त करती है, अनेक लोक और योनियों में अपने कर्म के अनुसार भटकती रहती है और वे स्वयं आत्मा होने के कारण ऐसे ही हैं, इसको वे जाने हुए होते हैं। [४]

ऐसा जो जानता है, वह आत्मवादी कहा जाता है—कर्मवादी कहा जाता है—क्रियावादी कहा जाता है और लोकवादी कहा जाता है। [५]

टिप्पणी-कारण यह कि 'आत्मा है' ऐसा मानने पर वह 'क्रिया का कर्ता-क्रियावादी' होता है और क्रिया से कर्मबन्ध को प्राप्त होने पर कर्मवादी होने से लोकान्तर को-जन्म-जन्मान्तर को प्राप्त करता रहता है।

'मैंने ऐसा किया', 'मैं ऐसा कराऊँगा,' या 'मैं ऐसा करने की की अनुमति दूँगा'—इस प्रकार सारे संसार में विविध प्रवृत्तियां हो रही हैं। किन्तु ऐसी प्रवृत्तियों से कैसा कर्मबन्ध होता है, इसको थोड़े लोग ही जानते हैं! इसी कारण वे अनेक लोक और योनियों में जन्म लेते रहते हैं, विविध वेदनाएं सहन करते रहते हैं और इस प्रकार असह्य दुःखों को भोगते हुए संसार में भटकते रहते हैं। [६–६]

भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में ऐसा समझाया है कि लोग शब्दादि विषयों और रागद्वेषादि कषायों से पीडित हैं, इस कारण उनको अपने हिताहित का भान नहीं रहता; उन्हें कुछ समझा सकना भी कठिन है। वे इसी जीवन में मान-सम्मान प्राप्त करने और जन्ममरण से छूटने के लिये या दुःखों को रोकने के लिये अनेक प्रवृत्तियाँ करते रहते हैं। अपनी प्रवृत्तियों से वे दूसरों की हिंसा करते रहते हैं–उन्हें परिताप देते रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता।

भगवान् के इस उपदेश को बराबर समझने वाले और सत्य के लिये प्रयत्नशील मनुष्यों ने भगवान् के पास से अथवा उनके साधुओं के पास से जान लिया होता है कि अनेक जीवों की घात करना ही बन्धन है, मोह है, मृत्यु है और नरक है। जो मुनि इसको जानता है, वही सच्चा कर्मज्ञ है क्योंकि जानने के योग्य यही वस्तु है। हे संयमोन्मुख पुरुषो! तुम बारीकी से विचार कर देखो। [१०–१६]

मनुष्य दूसरे जीवों के प्रति असावधान न रहे। दूसरों के प्रति जो असावधान रहता है, वह अपनी आत्मा के प्रति असावधान रहता है

और जो आत्मा के प्रति असावधान रहता है, वह दूसरे जीवों के प्रति भी असावधान रहता है [२२]

सब जगह अनेक प्रकार के जीव हैं, उनको भगवान् की आज्ञा के अनुसार जानकर भय रहित करो। जो जीवों के स्वरूप को जानने में कुशल हैं, वे ही अहिंसा के स्वरूप को जानने में कुशल हैं, और जो अहिंसा का स्वरूप जानने में कुशल हैं, वे ही जीवों का स्वरूप जानने में कुशल हैं। वासना को जीतनेवाले, संयमी, सदा प्रयत्नशील और प्रमाद हीन वीर मनुष्यों ने इसको अच्छी तरह जान लिया है। [१९, २१, ३२-३३]

विषयभोग में आसक्त मनुष्य पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि वनस्पति और त्रस जीवों की हिंसा करते हैं, उन्हें इस हिंसा का भान तक नहीं होता। यह उनके लिये हितकारक तो है ही नहीं; बल्कि सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिये भी बाधक है। इसलिये इस सम्बन्ध में भगवान् के उपदेश को ग्रहण करो।

जैसे कोई किसी अन्धे मनुष्य को छेदे-भेदे या मारे-पीटे तो वह उसे न देखते हुए भी दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वी भी न देखते हुए भी अपने ऊपर होने वाले शस्त्र प्रहार के दुःख को अनुभव करती है, वे आसक्ति (स्वार्थ) के कारण उसकी हिंसा करते हैं, उनको अपनी आसक्ति के सामने हिंसा का भान नहीं रहता। परन्तु पृथ्वी की हिंसा न करने वाले संयमी मनुष्यों को इसका पूरा भान रहता है। बुद्धिमान् कभी पृथ्वी की हिंसा न करे, न करावे, न करते को अनुमति दे। जो मुनि अनेक प्रवृत्तियों से होने वाली पृथ्वी की हिंसा को अच्छी तरह जानता है वही सच्चा मुनि है। [१६-१७]

इसी प्रकार जल में अनेक जीव हैं। जिनप्रवचन में साधुओं को कहा गया है कि जल जीव ही है; इस कारण उसका उपयोग करना हिंसा है। जल का उपयोग करते हुए दूसरे जीवों का भी नाश होता है। इसके सिवाय, दूसरों के शरीर का उनकी इच्छा विरुद्ध उपयोग करना चोरी भी तो है। अनेक मनुष्य ऐसा समझ कर कि जल हमारे पीने और स्नान करने के लिये है उसका उपयोग करते हैं और जल के जीवों की हिंसा करते हैं। यह उनको उचित नहीं है। जो मुनि जल के उपयोग से होने वाली हिंसा को बराबर जानता है, वही सच्चा कर्मज्ञ है। इसलिये बुद्धिमान् तीन प्रकार (करना, कराना और करते को अनुमति देना) से जल की हिंसा न करे। [२२-२०]

इसी प्रकार अग्नि का समझो। जो अग्निकाय के जीवों के स्वरूप को जानने में कुशल हैं, वे ही अहिंसा का स्वरूप जानने में कुशल हैं। मनुष्य विषय भोग की आसक्ति के कारण अग्नि तथा दूसरे जीवों की हिंसा करते रहते हैं क्योंकि आग जलाने में पृथ्वी काय के, घास-पान के, गोबर-कचरे में के तथा आस पास उडने वाले, फिरने वाले अनेक जीव जल मरते हैं दुःखी होकर नाश को प्राप्त होते हैं। [२६-२८]

इसी प्रकर अनेक मनुष्य आसक्ति के कारण वनस्पति की हिंसा करते हैं। मेरा कहना है कि अपने ही समान वनस्पति भी जन्मशील है, और सचित्त है। जैसे जब कोई हमको मारे-पीटे तो हम दुःखी हो जाते हैं, वैसे ही वनस्पति भी दुःखी होती है। जैसे हम आहार लेते हैं वैसे ही वह भी; हमारे समान वह भी अनित्य और अशाश्वत है; हम घटते-बढ़ने हैं, उसी प्रकार वह भी; और अपने में

जैसे विकार होते हैं, वैसे ही उनमें भी होते हैं। जो वनस्पति की हिंसा करते हैं, उनको हिंसा का भान नहीं होता। जो मुनि वनस्पति की हिंसा को जानता है, वही सच्चा कर्मज्ञ है। [४५-४७]

अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमूर्छिम उद्भिज्ज और औपपातिक ये सब त्रस जीव हैं। अज्ञानी और मंद-मति लोगों का बारबार इन सब योनियों में जन्म लेना ही संसार है। जगत् में जहां देखो वहीं आतुर लोग इन जीवों को दुःख देते रहते हैं। ये जीव सब जगह त्रास पा रहे हैं। कितने ही उनके शरीर के लिये उनका जीव लेते हैं, तो कितने उनके चमड़े के लिये, मांस के लिये, लोही के लिये, हृदय के लिये, पींछी के लिये, बाल के लिये, सींग के लिये, दांत (हाथी के) के लिये, दाढ़ के लिये, नख के लिये, आंत के लिये, हड्डी के लिये, अस्थि मज्जा के लिये, आदि अनेक प्रयोजनों के लिये त्रस जीवों की हिंसा करते हैं; और कुछ लोग बिना प्रयोजन के त्रस जीवों की हिंसा करते हैं। परन्तु प्रत्येक जीव की शांति का विचार कर के, उसे बराबर समझ कर उनकी हिंसा न करे। मेरा कहना है कि सब जीवों को पीड़ा, भय और अशांति दुःखरूप है, इसलिये, बुद्धिमान् उनकी हिंसा न करे, न करावे। [४८-५४]

इसी प्रकार वायुकाय के जीवों को समझो। आसक्ति के कारण विविध प्रवृत्तियों द्वारा वायु की तथा उसके साथ ही अनेक जीवों की वे हिंसा करते हैं क्योंकि अनेक उड़ने वाले जीव भी झपट में आ जाते हैं और इस प्रकार आघात, संकोच, परिताप और विनाश को प्राप्त होते हैं। [५८-५९]

जो मनुष्य जीवों की हिंसा में अपना अनिष्ट समझता है, वही उसका त्याग कर सकता है। जो अपना दुःख जानता है, वह अपने से बाहर के का दुःख जानता है; और जो अपने से बाहर का दुख जानता हैं वही अपना दुःख जानता हैं। यह दोनों समान हैं। शांति को प्राप्त हुए संयमी दूसरे जीवों की हिंसा करके जीने की इच्छा नहीं करते। [४४–४७]

प्रमाद और उसके कारण कामादि में आसक्ति ही हिंसा है। इस लिये बुद्धिमान् को, प्रमाद से मैंने जो कुछ पहिले किया, आगे नहीं करूंगा ऐसा निश्चय करना चाहिये। [३४–३९]

हिंसा के मूल रूप होने के कारण कामादि ही संसार में भटकाते हैं। संसार में भटकना ही कामादि का दूसरा नाम है। मनुष्य अनेक प्रकार के रूप देख कर और शब्द सुनकर रूपों और शब्दों में मूर्छित हो जाता है। इसी का नाम संसार है। ऐसा मनुष्य जिनों की आज्ञा के अनुसार चल नहीं सकता, किन्तु बारबार कामादि को भोगता हुआ हिंसा आदि वक्र प्रवृत्तियों को करता हुआ प्रमाद के कारण घर में ही मूर्छित रहता है। [४०–४४]

'विविध कर्मरूपी हिंसा की प्रवृत्ति मैं नहीं करूं' इस भाव से उद्यत हुआ और इसी को माननेवाला तथा अभय अवस्था को जाननेवाला बुद्धिमान् ही इन प्रवृत्तियों को नहीं करता। जिन प्रवचन में ऐसे ही मनुष्य को 'उपरत' और 'अनगार' कहा है। संसार में होने वाली छः काय जीवों की हिंसा को वह बराबर जानता है, वही मुनि कर्मों को बराबर समझता है, ऐसा मैं कहता हूँ। बुद्धिमान् छःकाय जीवों की हिंसा न करे, न करावे और करते हुए को अनु-

मति न दे। हिंसा से निवृत्त हुआ विवेकी वसुमान् (गुणसंपत्तिवान्) अकरणीय पापकर्मों के पीछे न दौड़े। पापकर्म मात्र में छः में से किसी न किसी काय के जीवों की हिंसा या परिताप होता ही है। [५९, ६१]

इतने पर भी कितने ही अपने को 'अनगार' कहलाते हुए भी अनेक प्रवृत्तियों से जीवों की हिंसा किया करते हैं। वे अपनी मान-पूजा के लिये, जन्म-मरण से बचने के लिये, दुःखों को दूर करने के लिये या विषयासक्ति के कारण हिंसा करते हैं। ऐसे मनुष्य अपने लिये बन्धन ही बनाते हैं वे आचार में स्थिर नहीं होते और हिंसा करते रहने पर भी अपने को 'संयमी' कहलाते हैं किन्तु वे स्वच्छन्दी, पदार्थों में आसक्ति रखने वाले और प्रवृत्तियों में लयलीन लोगों का सेन ही बढ़ाते रहते हैं। [६०]

जो सरल हो, मुमुक्षु हो और अदम्भी हो वही सच्चा अनगार है। जिस श्रद्धा से मनुष्य गृहत्याग करता है, उसी श्रद्धा को, शंका और आसक्ति का त्याग करके सदा स्थिर रखना चाहिये। वीर पुरुष इसी महामार्ग पर चलते आये हैं। [१८-२०]

दूसरा अध्ययन

—(०)—

लोकविजय

(१)

जो कामभोग हैं वे ही संसार के मूलस्थान हैं और जो संसार के मूलस्थान हैं वे ही कामभोग हैं। कारण यह कि कामभोगों में आसक्त मनुष्य प्रमाद से माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र, पुत्रवधु-पुत्री, मित्र परिचित और दूसरी भोग सामग्री तथा अन्नवस्त्र आदि की ममता में लीन रहता है। वह सब विषयों की प्राप्ति का इच्छुक और उसी में चित्त रखने वाला रात दिन परिताप उठाता हुआ, समय-कुसमय का विचार किये बिना कठिन परिश्रम उठाता हुआ बिना विचारे अनेक प्रकार के कुकर्म करता है, और अनेक जीवों का वध, छेद, भेद तथा चोरी, लूट, त्रास आदि पाप कर्म करने के लिये तैयार होता है। इससे भी आगे वह किसीने न किया हुआ कर्म भी करने का विचार रखता है। [६२,६६]

स्त्री और धन के कामी किन्तु दुःखों से डरने वाले वे मनुष्य अपने सुख के लिये शरीरबल, ज्ञातिबल, मित्रबल, प्रेत्यबल (दानव आदि का), देवबल, राजबल, चोरबल, अतिथिबल और श्रमणबल (इनसे प्राप्त मंत्रतंत्र का अथवा सेवादि से संचित पुण्यका) को प्राप्त करने के लिये चाहे जो काम करते रहते हैं और ऐसा करते हुए जो हिंसा होती है उसका जरा भी ध्यान नहीं रखते। [७४]

कामिनी और कांचन में मूढ़ उन मनुष्यों को अपने जीवन से अत्यन्त मोह होता है। मणि, कुंडल और हिरण्य (सोना)

आदि में प्रीति रखने वाले तथा स्त्रियों में अत्यन्त आसक्ति वाले उन लोगों को ऐसा ही दिखाई देता है कि यहां कोई तप नहीं है, दम नहीं है और कोई नियम नहीं है। जीवन और लोगों की कामना वाले ये मनुष्य चाहे जो बोलते हैं और इस प्रकार हिताहित से शून्य बन जाते हैं। [७५]

ऐसे मनुष्य स्त्रियों से हारे हुए होते हैं। वे तो ऐसा ही ही मानते हैं कि स्त्रियां ही सुख की खान हैं। वास्तव में तो ये दुःख, मोह, मृत्यु, नरक और नीच गति (पशु) का कारण हैं। [८४]

काम भोगों के ही विचार में मन, वचन और काया से मग्न रहने वाले ये मनुष्य अपने पास जो कुछ धन होता है, उसमें अत्यन्त आसक्त रहते हैं और द्विपद (मनुष्य) चौपाये (पशु) या किसी भी जीव का वध या आघात करके भी उसको बढ़ाना चाहते हैं। [८०]

परन्तु मनुष्य का जीवन अत्यन्त अल्प है। जब आयुष्य मृत्यु से घिर जाता है, तो आंख, कान आदि इन्द्रियों का बल कम होने पर मनुष्य मूढ़ हो जाता है। उस समय अपने कुटुम्बी भी जिनके साथ वह बहुत समय से रहता है उसका तिरस्कार करते हैं। वृद्धावस्था में हंसी, खेल, रतिविलास और शृंगार अच्छा नहीं मालुम होता। जीवन और जवानी पानी की तरह बह जाते हैं। उस समय वे स्वजन मनुष्य को मौत से रक्षा नहीं कर सकते। जिन माता पिता ने बचपन में उसका पालन-पोषण किया था और बड़ा होने पर वह उनकी रक्षा करता था। वे भी उसको नहीं बचा सकते। [६३-६४]

अथवा, असंयम के कारण अनेक बार उस को रोग होते हैं। या जिसके साथ वह बहुत समय से रहता आया हो वे अपने मनुष्य उसे पहिले ही छोड कर चले जाते हैं। इस प्रकार वे सुख के कारण नहीं बन सकते और न दुखों से ही बचा सकते हैं और न वह ही उनको दुखों से बचा सकता हैं। प्रत्येक को अपना सुख-दुःख खुद ही भोगना पडता हैं। [८२]

उसी प्रकार जो उपभोग सामग्री उसने अपने सगेसम्बन्धियों के साथ भोगने के लिये बड़े प्रयत्न से अथवा चाहे जैसे कुकर्म करके इकट्ठी की हुई होती है, उसको भोगने का अवसर आने पर या तो वह रोगों से घिर जाता है या वे सगे-सम्बन्धी ही उसको छोडकर चले जाते हैं या वह स्वयं ही उनको छोड कर चला जाता है। [६७]

अथवा, कभी उसको अपनी इकट्ठी की हुई संपत्ति को बांटना पड़ता है, चोर चुरा ले जाते हैं, राजा छीन लेता है, या वह खुद ही नष्ट हो जाती है, या आग में जल जाती है। यों सुख की आशा से इकट्ठी की हुई भोग सामग्री दुःख का ही कारण हो जाती हैं किन्तु, मोह से मूढ़ हुए मनुष्य इसको नहीं समझते [८३]

इस प्रकार कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता और न कोई किसी को बचा ही सकता है। प्रत्येक को अपने सुख-दुख खुद ही भोगने पड़ते हैं। जब तक अपनी अवस्था मृत्युसे घिरी हुई नहीं है, कान आदि इन्द्रियों, स्मृति और बुद्धि आदि बराबर हैं तब तक अवसर जान कर बुद्धिमान् को अपना कल्याण साध लेना चाहिये। [६८-७१]

ज़रा विचार तो करो ! संसार में सब सुख ही चाहते हैं और सब के सब सुख के पीछे ही दौड़ते हैं। इतने पर भी जगत में सर्वत्र अंधा, बहरा, गूंगा, काना, तिरछा कूबड़ा, काला कोढ़ी होने के दुःख देखे जाते हैं, वे सब दुख विषयसुख में लगे रहने वाले मनुष्यों को अपनी आसक्तिरूप प्रमाद के कारण ही होते हैं। ऐसा सोचकर बुद्धिमान सावधान रहे। अज्ञानी मनुष्य ही विषयसुखों के पीछे पड़कर अनेक योनियों में भटकते रहते हैं। [७७–७८]

'मैंने ऐसा किया है और आगे ऐसा ऐसा करूंगा' इस प्रकार से मन के घोड़े दौड़ाने वाला वह मायावी मनुष्य अपने कर्तव्यों में मूढ़ होकर बारबार लोभ बढ़ा कर खुद अपना ही शत्रु बन जाता है। उस सुखार्थी तथा चाहे जो बोलने वाले और दुख से मूढ़ बने हुए मनुष्य की बुद्धि को सब कुछ उल्टा ही सूझता है। इस प्रकार वह अपने प्रमाद से अपना ही नाश करता है। [९४–९७]

काम (इच्छाएँ) पूर्ण होना असम्भव है और जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता। काम भोगों का इच्छुक मनुष्य शोक करता रहता है और चिन्तित रहता है। मर्यादाओं का लोप करता हुआ वह अपनी कामासक्ति और मोह के कारण दुखी रहता है और परिताप को प्राप्त होता है। जिसके दुख कभी नाश नहीं होते ऐसा वह मूढ़ मनुष्य दुख के चक्कर में भटकता रहता है। [९२, ८]

भोग से तृष्णा का शमन कभी नहीं होता। ये तो महाभय रूप हैं और दुखों के कारण हैं। इसलिये उनकी इच्छा छोड़ दो और उनके लिये किसी को दुख न दो। अपने को अमर के समान समझने वाला जो मनुष्य भोगों में अत्यन्त श्रद्धा रखता है, वह

दुखी होता है। इसलिये तृष्णा को त्याग दे। कामभोगों के स्वरूप और उनके विकट परिणाम को न समझने वाला कामी अन्त में रोता और पछताता हैं। [८४–८५, ६४, ६५]

विषय कषायादि में अति मूढ़ मनुष्य सच्ची शांति के मूलरूप धर्म को समझ ही नहीं सकता। इस लिये, वीर भगवान् ने कहा है कि महामोह में जरा भी प्रमाद न करो। हे धीर पुरुष! तू आशा और स्वच्छन्दता का त्याग कर। इन दोनों के कारण ही तू भटकता रहता है। सच्ची शांति के स्वरूप और मरण (मृत्यु) का विचार करके तथा शरीर को नाशवान् समझ कर कुशल पुरुष क्यों कर प्रमाद करेगा? [८४]

जो मनुष्य ध्रुव वस्तु की इच्छा रखते हैं, वे क्षणिक और दुखरूप भोगजीवन की इच्छा नहीं करते। जन्म और मरण का विचार करके बुद्धिमान् मनुष्य दृढ (ध्रुव) संयममें ही स्थिर रहे और एक बार संयम के लिये उत्सुक हो जाने पर तो अवसर जान कर एक मुहूर्त भी प्रमाद न करे क्योंकि मृत्यु तो आने ही वाली है। [८०, ६५]

ऐसा जो बारबार कहा गया है, वह संयम की वृद्धि के लिये ही है। [६४]

कुशल मनुष्य काम को निर्मूल करके, सब सांसारिक सम्बन्धों और प्रवृत्तियों से मुक्त होकर प्रव्रजित होते हैं। वे काम भोगों के स्वरूप को जानते हैं और देखते हैं। वे सब कुछ बराबर समझ कर किसी प्रकार की भी आकांक्षा नहीं रखते। [७५]

जो कामभोगों से ऊपर उठ जाते हैं वे वास्तव में मुक्त ही हैं। अकाम से काम को दूर करते हुए वे प्राप्त हुए कामभोगों में नहीं फंसते। [७४]

भगवान् के इस उपदेश को समझने वाला और सत्य के लिये उद्यत मनुष्य फिर इस तुच्छ भोगजीवन के लिये पापकर्म न करे और अनेक प्रवृत्तियों द्वारा किसी भी जीव की हिंसा न करे और न दूसरों से करावे। सब जीवों को आयुष्य और सुख प्रिय है तथा दुःख और आघात अप्रिय है। सब ही जीव जीवन की इच्छा रखते हैं और इसी को प्रिय मानते हैं। प्रमाद के कारण अब तक जो कष्ट जीवों को दिया हो, उसे बराबर समझ कर, फिर वैसा न करना ही सच्चा विवेक है। और यही कर्म की उपशांति है। आर्य पुरुषों ने यही मार्ग बताया है। यह समझने पर मनुष्य फिर संसार में लिप्त नहीं होता। [८६, ८०, ८७, ७६]

(२)

जैसा भीतर है, वैसा बाहर है; और जैसा बाहर है वैसा भीतर है। पंडित मनुष्य शरीर के भीतर दुर्गन्ध से भरे हुए भागों को जानता है और शरीर के मल निकालने वाले बाहरी भागों के स्वरूप को बराबर समझता है। बुद्धिमान इसको बराबर समझ कर, बाहर निकाली हुई लार को चाटने वाले बालक की तरह त्यागे हुए भोगों में फिर नहीं पड़ता। [९३-९५]

विवेकी मनुष्य अरति के वश नहीं होता, उसी प्रकार वह रति के वश भी नहीं होता। वह अविमनस्क (स्थितप्रज्ञ) है। वह

कहीं राग नहीं रखता। प्रिय और अप्रिय शब्द और स्पर्शों सहन करने वाला वह विवेकी, जीवन की तृष्णा से निर्वेद पाता है और संयम का पालन करके कर्म शरीर को खखेर देता है। [९८–९९]

वीर पुरुष ऊंचा, नीचा और तिरछा सब ओर का सब कुछ समझ कर चलता है। वह हिंसा आदि से लिप्त नहीं होता। जो अहिंसा में कुशल है और बंध से मुक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न में रहता है, वही सच्चा बुद्धिमान है। वह कुशल पुरुष संयम का प्रारंभ करता है पर हिंसा आदि प्रवृत्तियों का नहीं। [१०२–१०३]

जो एक (काय) का आरम्भ (हिंसा) करता है, वह छःकाय के दूसरे का भी करता है। कर्म को बराबर समझ कर उसमें प्रवृत्ति न करे। [९७–१०१]

'यह मेरा है' ऐसे विचार को वह छोड़ देता है, वह ममत्व को छोड़ देता है। जिसको ममत्व नहीं है, वही मुनि सच्चा मार्गदृष्टा है। [९८]

संसारी जीव अनेक वार ऊँच गोत्रमें आता है, वैसे ही नीच गोत्रमें जाता है। ऐसा जान कर कौन अपने गोत्र का गौरव रखे, उसमें आसक्ति रखे या अच्छेबुरे गोत्र के लिये हर्ष–शोक करे? [७७]

लोगों के सम्बन्ध को जो वीर पार कर जाता है, वह प्रशंसा का पात्र है। ऐसा मुनि ही 'ज्ञात' अर्थात् 'प्रसिद्ध' कहा जाता है। मेधावी पुरुष संसार का स्वरूप बराबर समझ कर और लोकसंज्ञा (लोक–प्रवृत्ति) का त्याग करके पराक्रम करे, ऐसा मैं कहता हूं। [१००, ९८]

पदार्थों को जो यथावस्थित रूप में (जैसा का तैसा) जानता है, वही यथार्थता में रहता है; और जो यथार्थता में रहता है, वही पदार्थों के यथावस्थित रूप को जानता है। ऐसे ही मनुष्य दूसरों को दुःखों का सच्चा ज्ञान करा सकते हैं। वे मनुष्य संसार ओघ के पार पहुंचे होते हैं और वे ही तीर्ण, मुक्त और विरक्त कहे जाते हैं, ऐसा मैं कहता हूं। [१०१,९९]

जो मनुष्य ज्ञानी है, उसके लिये कोई उपदेश नहीं है। ऐसा कुशल मनुष्य कुछ करे या न करे उससे वह न बद्ध है और न मुक्त है। तो भी लोक संज्ञा को सब प्रकार बराबर समझ कर और समय को जान कर वह कुशल मनुष्य उन कर्मों को नहीं करता जिनका आचरण पूर्व के महापुरुषोंने नहीं किया। [८१,१०२]

जो बंधे हुओं (कर्मों से) को मुक्त करता है, वही वीर प्रशंसा का पात्र है। [१०२]

(२)

अपने को संसारियों के दुखों का वैद्य बताने वाले, अपने को पंडित मानने वाले कितने ही तीर्थिक (मत प्रचारक) घातक, छेदक, भेदक, लोपक उपद्रवी और नाश करने वाले होते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि किसीने नहीं किया, वह हम करेंगे। उनके अनुयायी भी उनके समान ही होते हैं। ऐसे मूढ़ मनुष्यों का संसर्ग न करो। ऐसे दुर्बुद्धि, असंयमी और जीवन चर्या में शिथिल मुनि सत्पुरुषों की आज्ञा के विराधक होते हैं। [९२-१००]

मोह से घिरे हुए और मंद कितने ही मनुष्य संयम को स्वीकार करके भी विषयों का सम्बन्ध होते ही फिर स्वछन्द हो

जाते हैं। 'अपरिग्रही रहेंगे' ऐसा सोचकर उद्यत होने पर भी वे कामभोगों के प्राप्त होते ही उनमें फंस जाते हैं और स्वच्छन्द रहकर बारबार मोह में फंसते हैं। वे न तो इस पार हैं और न उस पार। सच्चा साधु ऐसा नहीं होता। संयम में से अरति दूर करने वाले और संयम से न ऊबने वाले मेधावी वीर प्रशंसा के पात्र हैं। ऐसा मनुष्य शीघ्र ही मुक्त होता है। [७३, ६४, ७२, ८४]

उद्यमवंत, आर्य, आर्यप्रज्ञ और आर्यदर्शी ऐसा, संयमी मुनि समय के अनुसार प्रवृत्ति करता है। काल, बल, प्रमाण, क्षेत्र, अवसर, विनय, भाव और स्व-पर सिद्धान्तों को जानने वाला, परिग्रह से ममत्वहीन, यथासमय प्रवृत्ति करने वाला ऐसा वह निःसंकल्प भिक्षु राग और द्वेष को त्याग कर संयमधर्ममें प्रवृत्ति करता है। अपनी जरूरत के अनुसार वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, स्थान और आसन यह सब वह निर्दोष रीति से गृहस्थों के पास से मांग लेता है। गृहस्थ अपने लिये या अपने स्वजनों के लिये अनेक कर्म-समारम्भों के द्वारा भोजन, व्यालू, कलेवा या उत्सवादि के लिये आहार आदि खाद्य तैयार करते हैं या संग्रह कर रखते है। उनके पास से वह भिक्षु अपने योग्य आहार विधिपूर्वक मांग लेता है।

वह भिक्षु महा आरम्भ से तैयार किया हुआ आहार नहीं लेता न दूसरों को दिलाता है या दूसरों को उसकी अनुमति देता है। सत्यदर्शी वीर गाढ़ा-पतला और रूखा-सूखा भिक्षान्न ही लेते हैं। भिक्षा के सब प्रकार के दोष जान कर, उन दोषों से मुक्त होकर वह मुनि अपनी चर्या में विचरता है। वह न तो कुछ खरीदता है, न खरीदवाता है और न खरीदने की किसी को अनुमति देता है। कोई

मुझे नहीं देता, ऐसा कह कर वह क्रोध नहीं करता; थोड़ा देने वाले की निंदा नहीं करता; कोई देने का नकारा कहे तो वह लौट जाता है, देदे तो वापिस स्थान पर आ जाता है; आहार मिलने पर प्रसन्न नहीं होता, न मिले तो शोक नहीं करता; आहार मिलने पर उसको अपने परिमाण से लेता है, अधिक लेकर संग्रह नहीं करता, तथा अपने आप को सब प्रकार के परिग्रह से दूर रखता है। आर्य पुरुषों ने यही मार्ग बताया है, जिससे बुद्धिमान् लिप्त नहीं हो पाता ऐसा मैं कहता हूँ। [८४-६१]

वह संयमी मुनि जिस प्रकार धनवान को उपदेश देता है उसी प्रकार तुच्छ गरीब को भी; और जिस प्रकार गरीब को उपदेश देता है, उसी प्रकार धनवान को भी। धर्मोपदेश देते समय यदि कोई उसे अनादर से मारने को तैयार होता है तो उसमें भी वह अपना कल्याण समझता है। उसका श्रोता कौन है, और वह किस का अनुयायी है, ऐसा सोचने में वह अपना कल्याण नहीं समझता। [१०१-१०२]

बंध को प्राप्त हुओं को मुक्त करने वाला वह वीर प्रशंसा का पात्र है। [१०२]

तीसरा अध्ययन

—(०)—

सुख और दुःख

संसार के लोगों की कामनाओं का पार नहीं है। वे चलनी में पानी भरने का प्रयत्न करते हैं। उन कामनाओं को पूरी करने में दूसरे प्राणियों का वध करना पड़े, उनको परिताप देना पड़े, उनको वश में करना पड़े या सारे के सारे समाज को वैसा करना पड़े तो भी वे आगे-पीछे नहीं देखते हैं। काममूढ़ और राग-द्वेष में फंसे हुए वे मन्द मनुष्य इस जीवन की मान-पूजा में आसक्त रहते हैं। और अनेक वासनाओं को इकट्ठी करते हैं। इन वासनाओं के कारण वे बारबार गर्भ को प्राप्त होते हैं। विषयों में मूढ़ मनुष्य धर्म को न जान सकने के कारण जरा और मृत्यु के वश ही रहता है। [११२, १११, ११६, १०८]

इसी लिये वीर मनुष्य विषयसंग से प्राप्त होने वाले बंधन के स्वरूप को और उसके परिणाम में प्राप्त होने वाले जन्ममरण के शोक को जान कर संयमी बने तथा छोटे और बड़े सब प्रकार की अवस्था में वैराग्य धारण करे। हे ब्राह्मण! जन्म और मरण को समझ कर तू संयम के सिवाय दूसरी तरफ न जा, हिंसा न कर, न करा, तृष्णा से निर्वेद प्राप्त कर, स्त्रियों से विरक्त होकर उच्चदर्शी बन, और पापकर्मों से छूट। संसार की जाल को समझकर राग

और द्वेष से अस्पृष्ट रहने वाला छेदन-भेदन को प्राप्त नहीं होता, न वह जलता और न मारा ही जाता है। [११४, ११६]

माया आदि कषायों से और विषयासक्ति रूप प्रमाद से युक्त मनुष्य बारबार गर्भ को प्राप्त होता है। किन्तु शब्दरूपादि विषयों में तटस्थ रहनेवाला सरल और मृत्यु से डरने वाला जन्ममरण से मुक्त हो सकता है। ऐसा मनुष्य कामों में अप्रमत्त, पापकर्मों से उपरत, वीर, और आत्मा की सब प्रकार से (पापों से) रक्षा करने वाला, कुशल तथा संसार को भयस्वरूप समझने वाला और संयमी होता है। [१०९, १११]

लोगों में जो अज्ञान है, वह अहित का कारण है। दुःख मात्र आरंभ (सकाम प्रवृत्ति और उसके परिणाम में होने वाली हिंसा) से उत्पन्न होता है, ऐसा समझ कर, आरंभ अहितकर हैं, यह मानो। कर्म से यह सब सुखदुःखरूपी उपाधि प्राप्त होती है। निष्कर्म मनुष्य को संसार नहीं बंधता। इस लिये कर्म का स्वरूप समझ कर और कर्ममूलक हिंसा को जान कर, सर्व प्रकार से संयम को स्वीकार करके; राग और द्वेष से दूर रहना चाहिये। बुद्धिमान लोक का स्वरूप समझ कर, कामिनी-कांचन के प्रति अपनी लालसा का त्याग कर के, दूसरा सब कुछ भी छोडकर संयम धर्म में पराक्रम करे। [१०६, १०९, १००]

कितने ही लोग आगे-पीछे का ध्यान नहीं रखते, क्या हुआ और क्या होगा, इसका विचार नहीं करते। कितने ही ऐसा भी कहते हैं कि जो हुआ है, वही होगा। परंतु तथागत (सत्यदर्शी)

पुरुष कहते है कि कर्म की विचित्रता के कारण जैसा हुआ है, वैसा ही होगा, यह बात नहीं है और जैसा होता है, वैसा ही होना चाहिये, यह बात भी नहीं है। इस को अच्छी तरह समझ कर मनुष्य शुद्ध आचरण वाला बनकर कर्म का नाश करने में तत्पर बने। [११६]

हे धीर पुरुष ! तू संसारवृक्ष के मूल और डालियों को तोड़ फेंक। इसका स्वरूप समझकर नैष्कार्यदर्शी (आत्मदर्शी) बन। दुःख के स्वरूप को समझने वाला सम्यग्दर्शी मुनि परम मार्ग को जान लेने के बाद पाप नहीं करता। पदार्थों का स्वरूप समझ कर उपरत हुआ वह बुद्धिमान् सब पापकर्मों को त्याग देता है। [१११]

हे आर्य पुरुष ! तू जन्म मरण का विचार करके और उसे समझ कर प्राणियों के सुख का ध्यान रख। तू पाप के मूल कारण रूप लोगों के सम्बन्ध की पाश (जाल) को तोड़ दे। इस पाश के कारण ही मनुष्य को हिंसा जीवी बनकर जन्ममरण देखना पड़ता है। [१११]

बुद्धिमान को सब पर समभाव रख कर तथा संसार के सम्बन्धों को बराबर जान कर सब प्राणियों को अपने समान ही समझना चाहिये। और हिंसा से विरत होकर किसी का हनन करना और करवाना नहीं चाहिये। मूर्ख मनुष्य ही जीवों की हिंसा करके प्रसन्न होता है। पर वह मूर्ख यह नहीं जानता कि वह खुद ही वैर बढ़ा रहा है। अनेक बार कुगति प्राप्त होने के बाद बड़ी कठिनता से मनुष्यजन्म को प्राप्त करने पर किसी भी जीव के प्राणों

की हिंसा न करे, ऐसा मैं कहता हूँ। श्रद्धावान् और जिनाज्ञा को मानने वाला बुद्धिमान् लोक का स्वरूप बराबर समझ कर किसी भी तरह का भय न हो, इस प्रकार प्रवृत्ति करे। हिंसा में कमी करे पर अहिंसा में नहीं। [१०६, १११, ११४, १२४,]

जो मनुष्य शब्द आदि कामभोगों की हिंसा को जानने में कुशल हैं, वे ही अहिंसा को समझने में कुशल हैं। और जो अहिंसा को समझने में कुशल हैं, वे ही शब्द आदि कामभोगों की हिंसा को जानने में कुशल हैं। जिसने इन शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का स्वरूप बराबर समझ लिया है, वही आत्मवान, ज्ञानवान, वेदवान धर्मवान और ब्रह्मवान है। वह इस लोक के स्वरूप को बराबर समझता है। वही सच्चा मुनि है। वह मनुष्य संसार के चक्र और उस के कारण रूप मायाके संग को बराबर जानता है। [१०१, १०६–७]

(२)

जगत् के किंकर्तव्यमूढ और दुःखसागर में डूबे हुए प्राणियों को देख कर अप्रमत्त मनुष्य सब कुछ त्याग कर संयम धर्म स्वीकार करे और उसके पालन में प्रयत्नशील बने। जिनको संसार के सब पदार्थ प्राप्त थे, उन्होंने भी उसका त्याग करके संयम धर्म स्वीकार किया है। इस लिये ज्ञानी मनुष्य इस सबको निःसार समझ कर संयम के सिवाय दूसरी किसी वस्तु का सेवन न करे। [१०१,११४]

हे पुरुष! तू ही तेरा मित्र है। बाहर मित्र को क्यों ढूंढता है? तू अपनी आत्मा को निग्रह में रख। इस प्रकार तू दुख से मुक्त हो जावेगा। [११७, ११८]

जो उत्तम है, वह दूर है; और जो दूर है वह उत्तम है। हे पुरुष! तू सत्य को पहिचान ले। सत्य की साधना करने वाला, प्रयत्नशील, स्वहित में तत्पर, तथा धर्म को मानने वाला मेधावी पुरुष ही मृत्यु को पार कर जाता है और अपने श्रेय के दर्शन कर पाता है। कषायों का त्याग करने वाला वह अपने पूर्व कर्मों का नाश कर सकता है। [११८]

प्रमादी मनुष्य को ही सब प्रकार का भय होता है, अप्रमादी को किसी प्रकार का भय नहीं होता। लोक का दुख जानकर और लोक के संयोग को त्याग कर वीर पुरुष महामार्ग पर बढ़ते हैं। उत्तरोत्तर ऊपर ही चढ़ने वाले वे, असंयमी जीवन की इच्छा नहीं करते। [१२३]

संसार में रति और अरति दोनों को ही मुमुक्षु त्याग दे। सब प्रकार की हंसी को छोड़कर मन, वचन और काया को संयम में स्थिर रखकर बुद्धिमान विचरे। [११७]

अपने श्रेय (कल्याण) को साधने में प्रयत्नशील रहने वाला संयमी दुःखों के फेर में आ जाने पर भी न घबराये। वह सोचे कि इस संसार में संयमी मनुष्य ही लोकालोक के प्रपंच से मुक्त हो सकता है। [१२०]

असुनि (संसारी) ही सोते होते हैं; मुनि तो हमेशा जागते होते हैं। वे निर्ग्रन्थ शीत और उष्ण आदि द्वन्द्वों को त्याग देते हैं, रति और अरति को सहन करते हैं और कैसे ही कष्ट आ पड़ने पर शिथिल नहीं होते। वे हमेशा जागते हैं और वैर से विरत होते हैं।

हे वीर! तू ऐसा बनेगा तो सब दुखों से मुक्त हो सकेगा। [१०९, १०८]

संयम को उत्तम मानकर ज्ञानी कभी प्रमाद न करे। आत्मा की रक्षा करने वाला वीर पुरुष संयम के अनुकूल मिताहार के द्वारा शरीर को निभावे और लोक में सदा परदर्शी, एकान्तवासी, उपशांत समभावी, सहृदय और सावधान होकर काल की राह देखता हुआ विचरे। [११६ १११]

एक-दूसरे की शर्म रखकर या भय के कारण पापकर्म न करने वाला क्या मुनि है? सच्चा मुनि तो समता को बराबर समझ कर अपनी आत्मा को निर्मल करने वाला होता है। [११९]

क्रोध मान, माया और लोभ को छोड़कर ही संयमी प्रवृत्ति करे। ऐसा हिंसा को त्याग कर संसार का अन्त कर चुकनेवाले द्रष्टा कहते हैं। जो एक को जानता है, वही सबको जानता है; और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है। जो एक को झुकाता है, वही सबको झुकाता है; और जो सबको झुकाता है, वही एक को झुकाता है। इसका मतलब यह है कि जो क्रोध आदि चार कषायों में से एक का नाश करता है, वही बाकी के तीनों का नाश करता है, और जो बाकी के तीनोंका नाश करता है, वही एक का नाश करता है। [१२१, १२४]

जो क्रोधदर्शी है, वही मानदर्शी है; जो मानदर्शी है वही मायादर्शी है; जो मायादर्शी है, वही लोभदर्शी है; जो लोभदर्शी है, वही रागदर्शी है; जो रागदर्शी है, वही द्वेषदर्शी है; जो द्वेषदर्शी है, वही मोहदर्शी है; जो मोहदर्शी है, वही गर्भदर्शी है; जो गर्भदर्शी है, वही जन्मदर्शी है;

जो जन्मदर्शी है, वही मृत्युदर्शी है; जो मृत्युदर्शी है, वही नरकदर्शी है; जो नरकदर्शी है, वही तिर्यंचदर्शी है; जो तिर्यंचदर्शी है, वही दुःखदर्शी है। इस लिये बुद्धिमान मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और मोह को दूर करके गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक और तिर्यंचगति के दुःख दूर करे, ऐसा हिंसा को त्याग कर संसार का अन्त कर चुकने वाले द्रष्टा कहते हैं।

संक्षेप में नये कर्मों को रोकने वाला ही पूर्व के कर्मों का नाश कर सकता है। द्रष्टा (सत्य को जानने और मानने वाले) को कोई उपाधि नहीं होती। [१२५]

चौथा अध्ययन

—(०)—

सम्यक्त्व

(१)

जो अरिहंत पहिले हो गये हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, उन सबने ऐसा कहा है कि किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना चाहिये, उस पर सख्ती नहीं करना चाहिये, उसे गुलाम या नौकर बनाकर उस पर बलात्कार नहीं करना चाहिये या उसे परिताप देना अथवा मारना नहीं चाहिये। यह धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है और लोक के स्वरूप को समझ कर ज्ञानी पुरुषोंने गृहस्थ और त्यागी सबके लिये कहा है। यही सत्य है, और जिन प्रवचन में इसी प्रकार कहा है। [१२६]

परन्तु विभिन्न वादों के प्रवर्तक कितने ही श्रमण-ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि, " हमारे देखने, जानने सुनने और मानने के अनुसार और सब दिशाओं को खोजने के बाद हम कहते हैं कि सब जीवों की हिंसा करने और जबरदस्ती से उनसे काम लेने आदि में कोई दोष नहीं है। " परन्तु आर्यपुरुष कहते हैं कि उनका ऐसा कहना अनार्य वचन है जो ठीक नहीं है। 'सब प्राणियों की हिंसा नहीं करना चाहिये, उनको परिताप नहीं देना चाहिये, नहीं मारना चाहिये, उनको गुलाम या नौकर बना कर उन पर बलात्कार नहीं करना चाहिये।' यही आर्यवचन है।

ऐसा कहने वाले प्रत्येक श्रमण-ब्राह्मण को बुलाकर पूछो कि, 'भाई, तुमको सुख दुःखरूप है या दुःख दुःखरूप?' यदि वे सत्य बोलें तो यही कहेंगे कि, 'हमको दुःख ही दुःखरूप है।' फिर उनसे कहना चाहिये कि, 'तुमको दुःख जैसे दुःखरूप है वैसे ही सब जीवों को भी दुःख महा भय का कारण और अशांति कारक है।' संसार में बुद्धिमान मनुष्य इन अधर्मियों की उपेक्षा करते हैं। धर्मज्ञ और सरल मनुष्य शरीर की चिन्ता किये बिना, हिंसा का त्याग करके कर्मों का नाश करते हैं। दुःखमात्र आरम्भ—सकाम प्रवृत्ति और उससे होने वाली हिंसा—से होता है, ऐसा जान कर वे ऐसा करते हैं। दुःख के स्वरूप को समझने में कुशल वे मनुष्य कर्म का स्वरूप बराबर समझ कर लोगों को सच्चा ज्ञान दे सकते हैं [१३३-१३५]

संसार में अनेक लोगों को पापकर्म करने की आदत ही होती है, इसके परिणाम में वे अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं। क्रूर कर्म करने वाले वे अनेक वेदना उठाते हैं। जो ऐसे कर्म नहीं करते वे ऐसी वेदना भी नहीं उठाते, ऐसा ज्ञानी कहते हैं। [१३२]

अज्ञानी और अन्धकार में भटकने वाले मनुष्य को जिन की आज्ञा का लाभ नहीं मिलता। जिस मनुष्य में पूर्व में भोगे हुए भोगों की कामना नष्ट हो गई है और जो (भविष्य के) परलोक के भोगों की कामना नहीं रखता, उसको वर्तमान भोगों की कामना क्यों होगी? ऐसे शमयुक्त, आत्म-कल्याण में परायण, सदा प्रयत्नशील, शुभाशुभ के जानकार, पापकर्मों से निवृत्त, लोक (संसार) को बराबर समझ कर उसके प्रति तटस्थ रहने वाले और सब विषयों में सत्य पर दृढ़ रहने वाले वीरों को ही हम ज्ञान देंगे। ज्ञानी और बुद्ध

नुष्य आरम्भ के त्यागी होते हैं, इस सचाई को ध्यान में रखो। जिसने वध, बंध, परिताप और बाहर के (पाप) प्रवाहों को रोक दिया है और कर्म के परिणामों को समझ कर जो नैष्कर्म्यदर्शी (आत्मदर्शी) हो गया है वह वेदवित् (वेद अर्थात् ज्ञान को जानने वाला) कर्मबन्धन के कारणों से पर (दूर) रहता है। [१२८-१२६]

(२)

अज्ञानियों को जो बन्ध के कारण हैं, वे ही ज्ञानियों को मुक्ति के कारण हैं; और जो ज्ञानियों को मुक्ति के कारण हैं, वे ही अज्ञानियों को बन्ध के कारण हैं। इसको समझने वाले संयमी को ज्ञानियों की आज्ञा के अनुसार लोक के स्वरूप को समझ कर, उनके बताए हुए मार्ग पर चलना चाहिये। संसार में पड़कर धक्के खाने के बाद जागने और समझने पर मनुष्यों के लिये ज्ञानी पुरुष मार्ग बतलाते हैं। [१३०-१३१]

ज्ञानी पुरुषों से धर्म को समझ कर, स्वीकार करके पड़ा न रहने दे। परन्तु जो सुन्दर और मनोवांछित भोग पदार्थ प्राप्त हुए हैं, उनसे वैराग्य धारण करके लोकप्रवाह का अनुसरण करना छोड़ दे। मैंने देखा है और सुना है कि संसार में आसक्त होकर विषयों में फंसने वाले मनुष्य बारबार जन्म को प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रमादियों को देख कर; बुद्धिमानको सदा सावधान, अप्रमत्त और प्रयत्नशील रह कर पराक्रम करना चाहिये; ऐसा मैं कहता हूं। [१२७-१२८]

जिन की आज्ञा मानने वाले निःस्पृह बुद्धिमान मनुष्य को अपनी आत्मा का बराबर विचार करके उसको प्राप्त करने के लिये

शरीर की ममता छोड़ना चाहिये। जैसे अग्नि पुरानी लकड़ियों को एकदम जला डालती है, वैसे ही आत्मा में समाहित और स्थिरबुद्धि मनुष्य क्रोध आदि कषायों को जला दे। यह शरीर नाशवान् है, और भविष्य में अपने कर्मों के फलस्वरूप दुःख भोगना ही पड़ेंगे। कर्मों के कारण तड़फते हुए अनेक मनुष्यों और उनके कटु अनुभवों की ओर देखो। अपने पूर्वसम्बन्धों का त्याग करके, विषयासक्ति से उपशम प्राप्त करके शरीर को (संयम के लिये) बराबर तैयार करो। भविष्य में जन्म न प्राप्त करने वाले वीर पुरुषों का मार्ग कठिन है। अपने मांस और लोही को सुखा डालो। स्थिर मन वाले वीर संयम में रत, सावधान, अपने हित में तत्पर और हमेशा प्रयत्नशील होते हैं। ब्रह्मचर्य धारण करके कर्म का नाश करने वाले संयमी वीर मनुष्य को ही ज्ञानी पुरुषोंने माना है। [१२४–१२७]

नेत्र आदि इन्द्रियों को वश में करने के पश्चात् भी मंदमति मनुष्य विषयों के प्रवाह में बह जाते हैं। संयोग से मुक्त नहीं हुए इन मनुष्यों के बन्धन नहीं कटते। विषयभोग के कारण दुःखों से पीडित और अब भी उनमें ही प्रमत्त रहनेवाले हे मनुष्यो! मैं तुम्हें सच्ची बात कहता हूं कि मृत्यु अवश्य आवेगी ही। अपनी इच्छाओं के वशीभूत, असंयमी, काल से घिरे हुए और परिग्रह में फँसे हुए लोग बारबार जन्म प्राप्त करते रहते हैं। [१२८, १३१]

जो मनुष्य पापकर्म से निवृत्त हैं, वे ही वस्तुतः वासना से रहित हैं। इसलिये बुद्धिमान तथा संयमी मनुष्य कषायों को त्याग दे। जिसको इस लोक में भोग की इच्छा नहीं है, वह अन्य निंद्य प्रवृत्ति क्यों करेगा? ऐसे वीर को कोई उपाधि क्यों होगी? द्रष्टा को उपाधि नहीं होती, ऐसा मैं कहता हूं। [१२६,१२८,१४०]

पांचवां अध्ययन

—(०)—

लोकसार

(१)

विषयी मनुष्य अपने भोगों के प्रयोजन से अथवा बिना किसी प्रयोजन से हिंसा आदि प्रवृत्ति करते रहते हैं। इस कारण वे अनेक योनियों में भटकते रहते हैं। उनकी कामनाएँ बड़ी-बड़ी होती हैं। इस कारण वे मृत्यु से घिरे रहते हैं। अपनी कामनाओं के कारण ही वे सच्चे सुख से दूर रहते हैं। ऐसे मनुष्य न तो विषयों को भोग ही सकते हैं और न उनको त्याग ही सकते हैं। [१४१]

रूप आदि में आसक्त और दुर्गति में भटकने वाले जीवों को देखो। वे बारबार अनेक दुःखों को भोगते रहते हैं। अपनी आसक्ति के वश में होकर वे अशरण को शरण मानकर पापकर्मों में ही लीन रहते हैं। अपने सुख के लिये चाहे जैसे क्रूर कर्म करने और उनके परिणामों से दुःखी वे मूढ़ और मन्द मनुष्य विपर्यास (सुख के बदले दुःख) को प्राप्त करते हैं और बारबार गर्भ, मृत्यु और मोह को ही प्राप्त होते हैं। ऐसे मनुष्यों की एक समान यही चर्या होती है; वे अति क्रोधी, अति मानी, अति मायावी, अति लोभी, अति आसक्त, विषयों के लिये नट के समान आचरण करने वाले, अति शठ, अति संकल्पी, हिंसा आदि पापकर्मों में फंसे हुए और अनेक कर्मों से घिरे हुए होते हैं। कितने ही त्यागी कहलाने वाले साधुओं की

भी यही दशा होती है। वे चाहते हैं कि उनकी इस प्रकार की चर्या को कोई न जान ले वे सब मूढ मनुष्य अज्ञान और प्रमाद के दोष से धर्म को जान नहीं सकते। [१४९–१४२]

हे भाई! ये मनुष्य दुःखी हैं और पापकर्मों में कुशल हैं। अनेक प्रकार के परिग्रह वाले मे मनुष्य उनके पास जो कम–अधिक, छोटा–बड़ा सचित्त या अचित्त है, उसमें ममता रखते हैं। यही उनके लिये महा भय का कारण है। [१४५, १४६]

अज्ञानी, मंद और मूढ़ मनुष्य के जीवन को, संयमी वृक्ष के अग्र भाग पर स्थित, हवा से हिलता हुआ और गिरने को तैयार पानी के बून्द के समान समझते हैं [१४२]

जो मनुष्य विषयों के स्वरूप को बराबर समझता है, वह संसार के स्वरूप को बराबर समझता है; और जो विषयों के स्वरूप को नहीं जानता, वह संसार के स्वरूप को नहीं जानता। कामभोगों को सेवन करके उनको न समझने वाला मूढ़ मनुष्य दुगुनी भूल करता है। अपने को प्राप्त विषयों का स्वरूप समझकर उनका सेवन न करे, ऐसा मैं कहता हूं। कुशल पुरुष कामभोगों को सेवन नहीं करता। [१४३, १४४]

संयम को स्वीकार करके हिंसा आदि को त्यागने वाला जो मनुष्य यह समझता है कि इस शरीर से संयम की साधना करने का अवसर मिला है उसके लिये कहना चाहिये कि उसने अपना कर्तव्य पालन किया। बुद्धिमान ज्ञानियों से आर्यों का उपदेश दिया हुआ समता धर्म प्राप्त कर ऐसा समझता है कि मुझे यह अच्छा अवसर मिला। ऐसा अवसर फिर नहीं मिलता। इसलिये मैं कहता हूं कि अपना बल संग्रह कर मत रखो। [१४६, १५१]

मैंने सुना है और अनुभव किया है कि बन्धन से छूटना प्रत्येक के अपने हाथ में है। इस लिये, ज्ञानियों के पास से समझ कर, हे परमचक्षुवाले पुरुष! तू पराक्रम कर। यही ब्रह्मचर्य है ऐसा मैं कहता हूं। [१५०]

संयम के लिये उद्यत हुआ मनुष्य, ऐसा जानकर कि प्रत्येक को अपने कर्म का सुख-दुःख रूपी फल स्वयं ही भोगना पड़ता है, प्रमाद न करे। लोक-व्यवहार की उपेक्षा करके सब प्रकार के संगों से दूर रहने वाले मनुष्य को भय नहीं है। [१४६, १४६]

कितने ही मनुष्य ऐसे होते हैं जो पहिले सत्य के लिये उद्यत होते हैं और पीछे उसी में स्थिर रहते हैं; कितने ही ऐसे होते हैं जो पहिले उद्यत होकर भी पीछे पतित हो जाते हैं। ऐसे असंयमी दूसरों से ऐसा कहते हैं कि अविद्या से भी मोक्ष मिलता है। वे संसार के चक्कर में फिरते रहते हैं। तीसरे प्रकार के ऐसे होते हैं जो पहिले उद्यत भी नहीं होते और पीछे पतित भी नहीं होते। ऐसे असंयमी लोक के स्वरूप को जानते हुए भी संसार में ही डूबे रहते हैं। ऐसा जानकर मुनिओंने कहा है कि बुद्धिमान को ज्ञानी की आज्ञा को मानकर स्पृहा रहित, सदा प्रयत्नशील होकर तथा शील और संसार का स्वरूप सुनकर, समझ कर काम रहित और द्वन्द्वहीन बनना चाहिये। [१५२-१४५,१५३]

हे बन्धु! अपने साथ ही युद्ध कर, बाहर युद्ध करने से क्या होगा? खुद के सिवाय युद्ध के योग्य दूसरी वस्तु मिलना दुर्लभ है। जिन प्रवचन में कहा है कि जो रूप आदि में आसक्त रहते हैं, वे ही हिंसा में आसक्त रहते हैं। कर्मका स्वरूप समझ कर किसी की

हिंसा न करे और संयमी हो जाने पर स्वच्छन्दी न बने। साधुता का आकांक्षी, प्रत्येक जीव के सुख का विचार करके समस्त लोक में किसी को परिताप न दे किसी की हिंसा न करे। संयम की ओर ही लक्ष्य रखने वाला और असंयम के पार पहुँचा हुआ स्त्रियों से विरक्त हो कर निर्वेदपूर्वक रहे। वह गुणवान और ज्ञानी किसी प्रकार का पापकर्म न करे। [१५४]

जो सत्य है, वही साधुता है; और जो साधुता है, वही सत्य है। जो शिथिल हैं, ढ़ीले हैं, कामभोगों में लोलुप हैं, वक्र आचार वाले हैं, प्रमत्त हैं और घर-धन्धे में ही लगे रहते हैं, उनको साधुता प्राप्त नहीं हो सकती। [१५५]

मुनि बनकर शरीर को बराबर वश में रखो। सम्यग्दर्शी वीर मनुष्य बचा-खुचा और रुखा-सूखा खाकर ही जीते हैं। पापकर्मों से उपरत ऐसे वीरों को कभी रोग भी हो जावे तो भी वे उनको सहन करते हैं। इसका कारण यह कि वे जानते हैं कि शरीर पहिले भी ऐसा ही था और फिर भी ऐसा ही है; शरीर सदा नाशवान, अध्रुव अनित्य, अशाश्वत, घटने-बढ़ने वाला और विकारी है। ऐसा सोचकर वह संयमी बहुत समय तक दुःखों को सहन करता रहता है। ऐसा मुनि इस संसार प्रवाह को पार कर सकता है। उसी को मुक्त और विरत कहा गया है; ऐसा मैं कहता हूं। संयम में रत और विषयों से मुक्त और विरत रहने वाले मनुष्य को संसार में भटकना नहीं पड़ता। [१५५, १४७, १४८]

जिस प्रकार निर्मल पानी से भरा हुआ और अच्छे स्थान पर स्थित जलाशय अपने आश्रित जीवों की रक्षा का स्थान होता है, उसी

प्रकार इस संसार प्रवाह में ज्ञानी पुरुष हैं। वे सब गुणसंपत्तियों से परिपूर्ण होते हैं, समभावी होते हैं और पाप रूपी मल से निर्मल होते हैं। जगत के छोटे बड़े सब प्राणियों की रक्षा में लीन रहते हैं और उनकी सब इन्द्रियों विषयों से निवृत्त होती हैं। ऐसे महर्षियों की इस संसार में कोई इच्छा नहीं होती। वे काल की राह देखते हुए जगत में विचरते हैं। [१६०]

ऐसे कुशल मनुष्य की दृष्टि में, ऐसे कुशल मनुष्य के बताए हुए त्याग मार्ग में, ऐसे कुशल मनुष्य के आदर में, ऐसे कुशल मनुष्य के समीप संयमपूर्वक रहना चाहिये और ऐसे कुशल मनुष्य के मन के अनुसार चलना चाहिये। विनयवान शिष्य को इनकी सब तरह से सेवा करना चाहिये। ऐसा करने वाला संयमी इन्द्रियों को जीत कर सत्य वस्तु देख सकता है। [१९७, १६७]

जिसकी अवस्था और ज्ञान अभी योग्य नहीं हुए ऐसे अधूरे भिक्षु को ज्ञानी की अनुमति के बिना गांव-गांव अकेला नहीं फिरना चाहिये। ज्ञानी की आज्ञा के बिना बाहर का उसका सब पराक्रम व्यर्थ है। [१९६]

कितने ही मनुष्य शिक्षा देने पर नाराज होते हैं। ऐसे घमण्डी मनुष्य महा मोह से घिरे हुए हैं। ऐसे अज्ञानी और अंधे मनुष्यों को बारबार कठिन बाधाएँ होती रहती हैं। हे भिक्षु! तुझे तो ऐसा न होना चाहिये, ऐसा कुशल मनुष्य कहते हैं। [१९७]

गुरु की आज्ञा के अनुसार अप्रमत्त होकर चलने वाले गुणवान संयमी से अनजान में जो कोई हिंसा आदि पाप हो जाता है तो उसका बन्ध इसी भव में नष्ट हो जाता है। परन्तु जो कर्म अनजान

में न हुआ हो, उसको जानने के बाद संयमी को उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये। वेदवित् (ज्ञानवान) मनुष्य इस प्रकार अप्रमाद से किये प्रायश्चित्त की प्रशंसा करते हैं। [१९८]

स्वहित में तत्पर, बहुदर्शी, ज्ञानी, उपशांत सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला और सदा प्रयत्नशील] ऐसा मुमुक्षु स्त्रियों को देख कर चलायमान न हो। वह अपनी आत्मा को समझावे कि लोक में जो स्त्रियां हैं, वे मेरा क्या भला करने वाली हैं? वे मात्र आराम के लिये हैं, पुरुषार्थ के लिये नहीं। [१९९]

मुनि ने कहा है कि कोई संयमी कामवासना से पीड़ित हो तो उसे रूखा-सूखा आहार करना और कम खाना चाहिये; सारे दिन ध्यान में खड़े रहना चाहिये; खूब पांव-पांव परिभ्रमण करना चाहिये और अन्त में आहार का त्याग करना चाहिये पर स्त्रियों की तरफ मनोवृत्तिको नहीं जाने देना चाहिये। कारण यह कि भोग में पहिले दण्डित होना पड़ता है और पीछें दुःख भोगना पड़ता हैं या पहिले दुःख भोगना पड़ता है और पीछें दण्डित होना पड़ता है। इस प्रकार भोग मात्र क्लेश और मोह के कारण हैं। ऐसा समझ कर संयमी भोगों के प्रति न झुके, ऐसा मैं कहता हूं। [१९९]

भोगों का त्यागी पुरुष काम कथा न करे, स्त्रियों की ओर न देखे, उनके साथ एकान्त में न रहे, उन पर ममत्व न रखे, उनको आकर्षित करने के लिये अपनी सज-धज न करे; वाणि को संयम में रखे, आत्मा को अंकुश में रखे और हमेशा पाप का त्याग करे। इस प्रकार की साधुता की उपासना करे, ऐसा मैं कहता हूँ। [१९९]

असंयम की खाई में आत्मा को कदापि न गिरने दे। संसार में जहाँ जहाँ विलास है, वहां से इन्द्रियों को हटा कर संयमी

मनुष्य जितेन्द्रि हो कर विचरे । जो अपने कार्य सफल करना चाहता है, उस वीर मनुष्य को ज्ञानी की आज्ञा के अनुसार पराक्रम करना चाहिये । [१६३, १६८]

गुरु परम्परा से ज्ञानी के उपदेश को जाने अथवा जाति स्मरण ज्ञान से या दूसरे के पास से सुनकर जाने । गुरुकी आज्ञाका कदापि उल्लंघन न करे और उसे बराबर समझ कर सत्य को ही पहिचाने ।

[१६७, १६८]

जिसको तू मारता है, वह तू ही है; जिसको तू वश में करना चाहता है, वह भी तू ही है; जिसको तू परिताप देना चाहता है, वह भी तू ही है; जिसको तू दबाना चाहता है, वह भी तू ही है; जिसको तू मार डालना चाहता है, वह भी तू ही है। ऐसा जान कर वह सरल और प्रतिबुद्ध मनुष्य किसी का हनन नहीं करता और न कराता ही है। वह मनुष्य ओजस्वी होता है; जिसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है ऐसे अप्रतिष्ठ आत्मा को वह जानता है। [१६४ १६५, १७०]

ऊपर, नीचे और चारों तरफ कर्म के प्रवाह बहते रहते हैं। इन प्रवाहों से आसक्ति पैदा होती है, वही संसार में भटकाने का कारण है। ऐसा समझ कर वेदवित् (ज्ञानवान्) इनसे मुक्त हो । इन प्रवाहों को त्याग कर और इनसे बहार निकल कर वह पुरुष अकर्मा हो जाता है । वह सब कुछ बराबर समझता और जानता है । जन्म और मृत्यु का स्वरूप समझ कर वह किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता । वह जन्म और मृत्यु के मार्ग को पार कर चुका होता है । जिसका मन बहार कहीं भी नहीं भटकता, ऐसा वह समर्थ मनुष्य किसी से भी पराभव पाये बिना निरावलम्बन (भोगों के आलम्बन से रहितता-आत्मरति)में रह सकता है। [१६६,१६७)

वाणी से वह अतीत है, तर्क वहां तक नहीं पहुँच पाता और बुद्धि भी प्रवेश नहीं कर सकती। जो आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है। इस कारण ही वह आत्मवादी कहा जाता है। समभाव उसका स्वभाव है। [१७०, १६९]

वह लम्बा नहीं है, छोटा नहीं है, गोल नहीं है, टेढ़ा नहीं है, चौकोना नहीं है और मंडलाकार भी नहीं है। वह काला नहीं है, हरा नहीं है, लाल नहीं है, पीला नहीं है और सफेद भी नहीं है। वह न तो सुगंधी है और न दुर्गंधी ही। वह तीखा नहीं है, कड़वा नहीं है, तूरा नहीं है खट्टा नहीं है और मीठा भी नहीं है। वह कठोर नहीं है, कोमल नहीं है; भारी नहीं है, हलका नहीं है; वह ठंडा नहीं है, गरम नहीं है; चिकना नहीं है और रूखा भी नहीं है। वह शरीररूप नहीं है। वह ऊगता नहीं है; वह संगी नहीं है; वह स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है और नपुंसक भी नहीं है। वह ज्ञाता है, विज्ञाता है। उसको कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है, शब्दातीत होने के कारण उसके लिये कोई शब्द नहीं है। वह शब्द नहीं है, रूप नहीं है, गन्ध नहीं है, रस नहीं है, स्पर्श नहीं है– इनमें से कोई नहीं है, ऐसा मैं कहता हूँ। [१७१]

(२)

संशयात्मा मनुष्य समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता। [१६१]

कितने ही मनुष्य संसार में रहकर जिन की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, कितने ही त्यागी होकर जिन की आज्ञा के अनुसार चलते हैं परन्तु जिन की आज्ञा के अनुसार न चलने वाले लोगों के प्रति ऐसे दोनों प्रकार के मनुष्यों को ऐसा मान कर कि, "जिन भगवान्

ने ही सत्य और निःशंक वस्तु (सिद्धान्त) बतलाई है,' असहिष्णु नहीं होना चाहिये। कारण यह कि जिनप्रवचन को सत्य मानने वाले, श्रद्धावान् समझे हुए और बराबर प्रव्रज्या को पालने वाले मुमुक्षुओं को कोई बार आत्मप्राप्ति हो जाती है, तो कोई बार जिन प्रवचन को सत्य मानने वाले को आत्मप्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार कितने ही ऐसे भी होते हैं जिनको जिन प्रवचन सत्य नहीं जान पड़ने पर भी आत्मप्राप्ति होती है, तो कितने ही ऐसे भी होते हैं जिनको जिन प्रवचन सत्य नहीं जान पड़ता और आत्मप्राप्ति भी नहीं होती। [१६१, १६३]

इस प्रकार आत्मप्राप्ति होने की विचित्रता समझ कर समझदार मनुष्य अज्ञानी को कहे कि, "भाई! तू ही तेरी आत्मा के स्वरूप का विचार कर, ऐसा करने से सब सम्बन्धों का नाश हो जावेगा। खास बात तो यह है कि मनुष्य प्रयत्नशील है या नहीं?" कारण यह कि कितने ही जिनाज्ञा के विराधक होने पर भी प्रयत्नशील होते हैं और कितने ही जिनाज्ञा के आराधक होने पर भी प्रयत्नशील नहीं होते हैं। [१६२, १६६]

छठा अध्ययन

—(०)—

कर्मनाश

(१)

जिस प्रकार पत्तों से ढ़के हुए तालाव में रहने वाला कछुआ सिर उठा कर देखने पर भी कुछ नहीं देख सकता और जिस प्रकार दुःख उठाने पर भी वृक्ष अपना स्थान नहीं छोड़ सकते, उसी प्रकार रूप आदि में आसक्त जीव अनेक कुलों में उत्पन्न होकर तृष्णा के कारण तड़फड़ते रहते हैं पर मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। उन्हें कंठमाल, कोढ, क्षय, अपस्मार, नेत्र रोग, जड़ता, ठूंडापन खूंध निकल आना, उदररोग, मूत्र रोग, सूजन, भस्मक, कंप, पीठ सर्पिणी, हाथीपगा और मधुमेह इन सोलह में से कोई न कोई रोग होता ही है। दूसरे अनेक प्रकार के रोग और दुःख भी वे भोगते हैं।

उन्हें जन्म-मरण तो अवश्य ही प्राप्त होता है। यदि वे देव भी हों तो भी उनको जन्म-मरण उपपात और च्यवन के रूप में होता ही है। प्रत्येक को अपने कर्मों के फल अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। उन कर्मों के कारण उनको अन्धापन मिलता है या उन्हें अन्धकार में रहना पड़ता है। इस प्रकार उनको वारम्बार छोटे-बड़े दुःख भोगने ही पड़ते हैं।

और, ये जीव एक दूसरे को भी तो सताते रहते हैं। इस लोक के इस महाभय को देखो। ये सब जीव अति दुःखी होते हैं।

कामों में आसक्त ये जीव अपने क्षणभंगुर तथा बिना बल के शरीर द्वारा बारबार वध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तड़फने पर भी ये जीव बारबार उन्हीं कर्मों को करते रहते हैं। विविध दुःखों और अनेक रोगों से पीड़ित ये मनुष्य अत्यन्त परिताप सहन करते हैं। इसलिये, हे मुनि, रोगों के कारण रूप विषयों की कामना को तू त्याग दे तू उनको महा भय रूप समझ और उनके कारण से अन्य जीवों की हिंसा मत कर। [१७२-१७८]

(२)

तेरी इच्छा सुनने की हो तो मैं तुझे कर्मनाश का मार्ग कह सुनाऊँ। संसार में विविध कुलों में जन्म लेकर और वहां सुख में पल कर जागृत हो जाने पर कितने ही मनुष्यों संसार का त्याग करके मुनि बने हैं। उस समय संयम के लिये पराक्रम करते हुए उन मुनियों को देख कर उनके स्वच्छन्दी और विषयासक्त सगे सम्बन्धियों ने दुःखी होकर रो रो कर उनसे उन्हें न छोड़ कर जाने की विनति की। परन्तु उन मुनियों को उनमें अपनी शरण नहीं जान पड़ती, फिर वे क्यों उनमें आसक्ति रखने लगे? जिसने अपने प्रेमी और सम्बन्धियों को छोड़ दिया है, वही असाधारण मुनि संसार-प्रवाह को पार कर सकता है। ऐसे ज्ञान की सदा उपासना करो, ऐसा मैं कहता हूँ। [१७९, १८७]

संसार को काम-भोग से पीड़ित जानकर और अपने पूर्व सम्बन्धों का त्याग करके उपशमयुक्त और ब्रह्मचर्य में स्थित त्यागी और गृहस्थ को ज्ञानी के पास से धर्म को यथार्थ जानकर उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये। जीवों की सब योनियों को बराबर समझने वाले, उद्यमी, हिंसा के त्यागी और समाधियुक्त ऐसे ज्ञानी

अन्य मनुष्यों को मार्ग बतलाते हैं। और कितने ही वीर उनकी आज्ञा के अनुसार पराक्रम करते ही हैं, तो कितने की आत्मा के ज्ञान को न जानने वाले संसार में भटकते रहते हैं। [१८१, १७२]

धर्म स्वीकार करके सावधान रहे और किसी में आसक्ति न रखे। महामुनि यह सोचकर कि यह सब मोहमय ही है, संयम में ही लीन रहे। सब प्रकार से अपने सगे-सम्बन्धियों को त्याग कर मेरा कोई नहीं है, मैं किसी का नहीं हूँ ऐसा सोचकर विरत मुनि को संयम में ही यत्न करते हुए विचरना चाहिये। इस प्रकार का जिन की आज्ञा के अनुसार आचरण करना ही उत्कृष्टवाद कहलाता है। उत्तम धर्म के स्वरूप को समझ कर दृष्टिमान पुरुष परिनिर्वाण को प्राप्त करता है। जो फिर संसार में नहीं आते, वे ही सच्चे 'अचेलक' (नग्न) हैं। [१८२-१८४,१६५]

शुद्ध आचारवाला और शुद्ध धर्मवाला मुनि ही कर्मों का नाश कर सकता है। बराबर समझ कर संसार के प्रवाह से विरुद्ध चल कर संयम धर्म का आचरण करने वाला मुनि, तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है। इस प्रकार बहुत काल तक संयम में रहते हुए विचरने वाले भिक्षु को अरति क्या कर सकती है? [१८५-१८७]

ऐसे संयमी को अन्तकाल तक युद्ध में आगे रहने वाले वीर की उपमा दी जाती है। ऐसा ही मुनि पारगामी हो सकता है। किसी भी कष्ट से न डर कर और पूर्ण स्थिर और दृढ़ रहने वाला वह संयमी शरीर के अन्त समय तक काल की राह देखता रहे पर दुःखों से घबरा कर पीछे न हटे। बहुत समय तक संयम धर्म का पालन करते हुए विचरने वाले इन्द्रिय निग्रही पूर्वकाल के महापुरुषोंने जो सहन किया है, उस तरफ लक्ष्य रखो। [१६६, १८५]

ऐसे आ पड़ने वाले दुःख (परिषह) दो प्रकार के होते हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। ऐसे समय पैदा होनेवाले संशयों को त्याग कर संयमी शान्तदृष्टि रहे। सुगन्ध हो या दुर्गन्ध हो अथवा भयंकर प्राणी कष्ट दे रहे हों, तो भी वीर को इन दुःखों को सहन करना चाहिये; ऐसा मैं कहता हूँ। मुनि को कोई गाली दे, मारे, उसके बाल खींचे या निंदा करे तो भी उसको ऐसे अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंगों को समझ कर सहन करना चाहिये। [१८३-१८४]

घरों में, गांवों में, नगरों में, जनपदों में या इन सब के बीच में विचरते हुए, संयमी को हिंसक मनुष्यों की तरफ से अथवा अपने आप ही अनेक प्रकार के दुःख आ पड़ते हैं उन्हें वीर को सम भाव से सहन करना चाहिये। [१६४]

जो भिक्षु वस्त्रहीन है, उसको 'मेरा वस्त्र पुराना हो गया है, मुझे दूसरा वस्त्र या सूई-डोरा मांगना पड़ेगा, और उसको ठीक करना होगा' ऐसी कोई चिन्ता नहीं होती। संयम में पराक्रम करते हुए उस भिक्षु को वस्त्रहीन रहने के कारण घास चुभता है, ठंड लगती है, गरमी लगती है, डांस-मच्छर काटते हैं—इस प्रकार अनेक दुःख सहन करता हुआ और उपकरणों के भार से रहित वह अवस्त्र मुनि तप की वृद्धि करता है। भगवान् ने इसको जिस प्रकार बतलाया है, उसी प्रकार समझना चाहिये। [१८५]

अकेला फिरता हुआ वह मुनि छोटे कुलों में जाकर निर्दोष भिक्षा प्राप्त करता हुआ विचरे। वस्त्रहीन रहने वाला मुनि अधपेट भोजन करे। संयमी और ज्ञानी पुरुषों की भुजाएँ पतली होती हैं, उनके शरीर में मांस और लोही कम होते हैं। [१८३-१८४, १८६]

कर्मों के नाश का इच्छुक संयमी मुनि उनके स्वरूपको समझ कर संयम से क्रोध आदि कषायों का नाश करता है। जिन प्रवृत्तियों से हिंसक लोगों को जरा भी घृणा नहीं होती, उन प्रवृत्तियों के स्वरूप को वह जानता है। वही क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त हो सकता है और ऐसे को ही क्रोध आदि को नष्ट करने वाला कहा गया है। [१८४, १८५]

प्रयत्नशील, स्थितात्मा, अरागी, अचल, एक स्थान पर नहीं रहने वाला और स्थिरचित्त वह मुनि शांति से विचरा करता है। भोगों की आकांक्षा नहीं रखने वाला और जीवों की हिंसा न करने वाला वह दयालु भिक्षु बुद्धिमान् कहा जाता है। संयम में उत्तरोत्तर वृद्धि करनेवाला वह प्रयत्नशील भिक्षु जीवों के लिये 'असंदीन' (पानी में कभी न डूबने वाली) नौका के समान है। आर्य पुरुषों का उपदेश दिया हुआ धर्म भी ऐसा ही है। [१९५, १८७]

तेजस्वी, शान्तदृष्टि और वेदवित् (ज्ञानवान) संयमी संसार पर कृपा करके और उसका स्वरूप समझकर धर्म का कथन और विवेचन करे। सत्य के लिये प्रयत्नशील हों अथवा न हों पर जिनकी उसको सुनने की इच्छा हो ऐसे सब को संयमी धर्म का उपदेश दे। जीव मात्र के स्वरूप का विचार कर वह वैराग्य, उपशम, निर्वाण शौच, ऋजुता, निरभिमान, अपरिग्रह और अहिंसा रूपी धर्म का उपदेश दे। [१९४]

इस प्रकार धर्म का उपदेश देने वाला भिक्षु स्वयं कष्ट में नहीं गिरता और न दूसरों को गिराता है। वह किसी जीव को पीड़ा नहीं देता। ऐसा उपदेशक महामुनि दुःख में डूबे हुए सब जीवों को 'असंदीन' नाव के समान शरणरूप होता है।

जैसे पक्षी अपने बच्चों को उछेरते हैं, वैसे ही वह भिक्षु धर्म में न लगे हुए मनुष्यों को रात-दिन शास्त्र का उपदेश दे कर धीरे धीरे तैयार करता है, ऐसा मैं कहता हूँ। [१९६, १८७]

(३)

कितने ही निर्बल मन के मनुष्य धर्म को स्वीकार करके भी उसको पाल नहीं सकते। असह्य कष्टों को सहन न कर सकने के कारण वे साधुता को छोड़ कर कामों की तरफ ममता से फिर पीछे चले जाते हैं। संसार में फिर गिरने वाले उन मनुष्यों के भोग विघ्नों से परिपूर्ण होने के कारण अधूरे ही रहते हैं। वे तत्काल या कुछ समय के बाद ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं और फिर बहुत काल तक संसार में भटकते रहते हैं। [१८२]

कितने ही कुशील मनुष्य ज्ञानियों के पास से विद्या प्राप्त कर के उपशम को त्याग कर उद्धत हो जाते हैं। कितने ही मनुष्य ब्रह्मचर्य से रहते हुए भी भगवान की आज्ञा के अनुसार नहीं चलते। और कितने ही इस आशा से कि आनन्द से जीवन बीतेगा, ज्ञानियों के शिष्य बन जाते हैं, तो कितने ही संसार का त्याग करने के बाद ऊब जाने के कारण, कामों में आसक्ति रखते हैं। वे संयम का पालन करने के बदले गुरु का सामना करते हैं [१८८]

ऐसे मंद मनुष्य दूसरे शीलवान्, उपशांत और विवेकी भिक्षुओं को, 'तुम शीलवान् नहीं हो,' ऐसा कहते हैं। यह मंद मनुष्यों की दूसरी मूर्खता है। [१८९]

कितने ही मनुष्य संयम से पतित होते हैं, पर वे दूसरों के सामने शुद्ध आचार की बातें बनाते हैं; और कितने ही आचार्य को

वन्दना-नमस्कार करते रहते भी ज्ञानभ्रष्ट और दर्शनभ्रष्ट होने के कारण जीवन को नष्ट कर डालते हैं। संयम स्वीकार कर लेने पर बाधाएँ आ जाने के कारण सुखार्थी हो कर असंयमी बन जाने वाले इन्द्रियों के दास कायर मनुष्य अपनी प्रतिज्ञाओं को तोड देते हैं। ऐसों की प्रशंसा करना पाप है। ऐसे श्रमण विभ्रान्त हैं, विभ्रान्त हैं। [१६०-१६१,१६३]

इनका निष्क्रमण दुर्निष्क्रमण है। निंदा के पात्र ऐसे मनुष्य बारबार जन्म-मरण को प्राप्त होते रहते हैं। ये अपने को विद्वान् मानकर, 'मैं ही बड़ा हूँ।' ऐसी प्रशंसा करते रहते हैं। ये दूसरे तटस्थ संयमियों के सामने उद्धत होते हैं और उनको चाहे जो कहते रहते हैं। [१६६]

बालकों के समान मूर्ख ये अधर्मी मनुष्य हिंसार्थी होकर कहने लगते हैं कि, 'जीवों की हिंसा करो;' इस प्रकार ये भगवान के बताये हुए दुष्कर धर्म की उपेक्षा करते हैं। इन को ही आज्ञा के विराधक, काम भोगों में डूबे हुए और वितंडी कहा गया है। [१६२]

संयम के लिये प्रयत्नशील मनुष्यों के साथ रहते हुए भी ये अविनयी होते हैं। ये विरक्त और जितेन्द्रिय मनुष्यों के साथ रहते हुए भी अविरक्त और अदान्त होते हैं। [१६३]

ऐसी विचित्र स्थिति जान कर बुद्धिमान को पहिले ही धर्म को बराबर समझ लेना चाहिये और फिर अपने लक्ष्य में परायण बन कर शास्त्रानुसार पराक्रम करना चाहिये; ऐसा मैं कहता हूँ। [१६१, १६२]

सातवाँ अध्ययन

—(०)—

महापरिज्ञ

[यह अध्ययन लुप्त है ऐसा प्राचीन प्रवाद है। इस अध्ययन के विषय के बारे में टीकाकार शीलांकदेवने लिखा है कि 'संयम आदि गुणों से युक्त मुमुक्षु को कदाचित् मोह के कारण परिषह (संकट) और उपसर्ग (विघ्न) आ पड़े तो उसको अच्छी तरहसे सहन करना चाहिये।' ऐसा सातवाँ अध्ययन का विषय है]

आठवाँ अध्ययन

—(०)—

विमोह

(१)

आर्य पुरुषों द्वारा समभाव से उपदेश दिया हुआ धर्म सुनकर और समझ कर, बोध को प्राप्त होने पर अनेक बुद्धिमान योग्य अवस्था में ही संयम धर्म को स्वीकार करते हैं। किसी भी प्रकार की आकांक्षा से रहित वे संयमी किसी की हिंसा नहीं करते, किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते और न कोई पाप ही करते हैं। वे सच्चे अग्रंथ हैं। [२०७]

बुद्धिमान भिक्षु ज्ञानियों के पास से जीवों के जन्म और मरण का ज्ञान प्राप्त करके संयम में तत्पर बने। शरीर आहार से बढ़ता और दुःखों से नष्ट हो जाता है। वृद्धावस्था में शक्तियां कमजोर हो जाने पर कितने ही मनुष्य संयम धर्म का पालन करने में असमर्थ हो जाते हैं। इस लिये, बुद्धिमान भिक्षु समय रहते ही जाग्रत हो कर, दुःख पड़ने पर भी प्रयत्नशील और आकांक्षाहीन बन कर संयमोन्मुख बने और दया धर्मका पालन करे। जो भिक्षु कर्मों का नाश करने वाले शस्त्ररूप संयम को बराबर समझता है और पालता है, वही कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षणज्ञ, विनयज्ञ और समयज्ञ है। [२०८-२०९]

कितने ही लोगों को आचार का कुछ ज्ञान नहीं होता। हिंसा से निवृत्त न होने वाले उनको जीवों को हनने-हनाने में अथवा

चोरी आदि करने, कराने में कुछ बुरा नहीं जान पडता। कुछ कहते हैं, 'लोक है' कुछ कहते, 'लोक नहीं है'। कोई लोक को ध्रुव कहते हैं, कोई अध्रुव कहते हैं। कोई उसको सादि (आदि वाला) कहते हैं तो कोई उसको अनादि कहते है। कोई उसको अन्तवाला कहते है तो कोई उसको अनन्त कहते हैं। इसी प्रकार वे सुकृत-दुष्कृत, पुण्य पाप, साधु-असाधु सिद्धि-असिद्धि और नरक-अनरक के विषयों में अपनी अपनी मान्यता के अनुसार वाद-विवाद करते हैं। उनसे इनता ही कहना चाहिये कि तुम्हारा कहना अहेतुक है। आशुप्रज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वज्ञ भगवान ने जिस प्रकार धर्म का उपदेश दिया है, उस प्रकार उनका (वादियों का) धर्म यथार्थ नहीं है। [१६६]

अथवा, ऐसे विवाद के प्रसंगों में मौन ही धारण करे; ऐसा मैं कहता हू। 'प्रत्येक धर्म में पाप को (त्याग करने को) स्वीकार किया है। इस पाप से निवृत्त होकर मैं विचरता हूं यही मेरी विशेषता है," ऐसा समझ कर विवाद न करे। [२००]

और, यह भी भली भांति जान ले कि खान-पान, वस्त्र, पात्र, कंबल या रजोहरण मिले या न मिले तो भी मार्ग छोड कर कुमार्ग पर चलने वाले विधर्मी लोग कुछ दे, (कुछ लेने के लिये) निमंत्रण दे या सेवा करे तो उसे स्वीकार न करे। [१६८]

मतिमान जिन (मूल में 'माहण' शब्द है, जिसका अर्थ सच्चा ब्राह्मण या मा+हण अर्थात् अहिंसा का उपदेश देने वाले जिन होता है।) के बताए हुए धर्म को समझ कर, फिर भले ही गांव में रहे या अरण्य में रहे, अथवा गांव में न रहे या अरण्य में न रहे; परन्तु महापुरुषों के बताए हुए अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह, इन तीनों व्रतों के स्वरूप को बराबर समझ कर आर्य पुरुष

प्रयत्नशील बने। ऊंची नीची और तिरछी सब दिशाओं में प्रवृत्ति मात्र से प्रत्येक जीव को होने वाले दुःख को जान कर बुद्धिमान सकाम प्रवृत्तियां न करे, न करावे और न करते हुए को अनुमति दे। जो ऐसी प्रवृत्तियां करते हैं, उनसे संयमी दूर रहे। विविध प्रवृत्तियों के स्वरूप को समझ कर संयमी किसी भी प्रकार का आरम्भ न करे। जो पाप कर्म से निवृत्त है, वही सच्चा वासना रहित है। [२००-१]

(२)

संयमी भिक्षु अपनी भिक्षा के सम्बन्ध के आचार का बराबर पालन करे, ऐसा बुद्ध पुरुषों ने कहा है। [२०४]

साधारण नियम यह है कि (गृहस्थ) स्वधर्मी या परधर्मी साधुको खान-पान, मेवा-मुखवास, वस्त्र-पात्र, कंबल-रजोहरण न दे, इनके लिये उनको निमन्त्रण न दे, और इन वस्तुओं से आदरपूर्वक उनकी सेवा भी न करे [१९७]

इसी प्रकार सद्धर्मी साधु असद्धर्मी साधु को खान-पान, वस्त्र आदि न दे या इन वस्तुओं के लिये उनको निमन्त्रण देकर उनकी सेवा भी न करे हाँ, सद्धर्मी साधुकी सेवा करे। [२०५-६]

स्मशान में, उजाड़ घर में, गिरिगुहा में वृक्ष नीचे, कुंभार के घर या अन्य स्थान पर साधन करते, रहते, बैठते, विश्रांति लेते और विचरते हुए भिक्षु को कोई गृहस्थ आकर खान-पान वस्त्र आदि के लिये निमन्त्रण दे; और इन वस्तुओं को हिंसा करके, खरीद लाकर, छीन कर, दूसरे की उठा लाकर या अपने घर से लाकर देना चाहे या मकान बनवा देकर वहां खा-पी कर रहने के लिये कहे तो भिक्षु कहे कि, हे आयुष्मान्! तेरी बात मुझे स्वीकार नहीं है क्योंकि मैं ने इन प्रवृत्तियों को त्याग दिया है। [२०२]

स्मशान आदि में रहने वाले भिक्षु को जिमाने के लिये या रहने के लिये गृहस्थ हिंसा आदि करके मकान बनवा दे या खान-पान तैयार करे और इसका पता भिक्षु को अपनी सहजबुद्धि से लग जाय, किसी के कहने से या दूसरे से सुनने से मालुम पड़ जावे तो वह तुरन्त ही उस गृहस्थ को उसी प्रकार मना कर दे [२०३]

भिक्षु से पूछ कर या उससे बिना पूछे उसके लिये गृहस्थने बड़ा खर्च किया हो और बाद में भिक्षु उन वस्तुओं को लेने से इनकार करे और इससे गृहस्थ उसको मारे या सन्ताप दे तो भी वह वीर भिक्षु उन दुःखों को सहन ही करे अथवा वह गृहस्थ बुद्धिमान हो तो उसको तर्क से अपना आचार समझा दे। यदि ऐसा न हो सके तो मौन ही रहे। [२०४]

भिक्षु या भिक्षुणी आहार–पानी खाते पीते समय उसके स्वाद के लिये उसको मुंह में इधर–उधर न फेरे। ऐसा करने वाला भिक्षु उपाधि से मुक्त हो जाता है और उसका तप बढ़ता है। भगवान द्वारा बताये हुए इस मार्ग को समझकर उस पर समभाव से रहे। [२२०]

ठंड से धूजते हुए भिक्षु को गृहस्थ आकर पूछे कि, तुमको कामवासना तो नहीं सताती? तो वह कहे कि मुझे कामवासना तो नहीं सताती, पर यह ठंड सहन न होने के कारण मैं धूजता हूँ। परन्तु आग जला कर तापने का या दूसरों के कहने से ऐसा करने का हमारा आचार नहीं है। भिक्षु को ऐसा कहते सुन कर कोई तीसरा आदमी खुद ताप लगाकर उसे तपावे तो भी भिक्षु उस ताप को न ले। [२१०]

कोई भिक्षु एक पात्र और तीन वस्त्रधारी हों या एक पात्र और दो वस्त्रधारी हो या एक पात्र और एक वस्त्रधारी हो तो उसे यह न चाहिये कि वह एक वस्त्र और मांगे। हेमन्तऋतु के बीतने पर ग्रीष्म के प्रारम्भ में अपने जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर ऊपर का और एक नीचे का वस्त्र रखे या एक ही वस्त्र रखे या वस्त्र ही न रखे; भिक्षु को जैसे वस्त्र लेने योग्य हों, वैसे ही पहने; वह उनको न धोवे और न धोये हुए या रंगे हुए वस्त्र ही पहने। गांव बहार जाते समय कोई उसे लूटने की इच्छा करे तो वह अपने वस्त्रों को छिपावे नहीं और न ऐसे वस्त्र ही वह पहने। [२११-२१२]

ऐसा करने वाला भिक्षु उपाधि से मुक्त हो जाता है और उसका तप बढता है। यह वस्त्र धारी का आचार है। भगवान द्वारा बताए हुए इस मार्ग को बराबर समझ कर वह समभाव से रहे। [२१३-२१४]

जो भिक्षु बिना वस्त्र के रहता हो, उसको ऐसा जान पड़े कि मैं तृण-स्पर्श, ठंड, गरमी, डांस-मच्छर के उपद्रव तथा दूसरे संकटों को सहन कर सकता हूँ, परन्तु अपनी लज्जा ढांके बिना नहीं रह सकता तो वह एक कटिबन्ध स्वीकार कर ले। बिना वस्त्र के ठंड गरमी आदि अनेक दुःख सहने वाला वह भिक्षु उपाधि से मुक्त हो जाता है और उसका तप बढ़ता है। [२२२-२२४]

यदि भिक्षु कामवासना के वशीभूत हो जाय और उसको वह सहन न कर सकता हो तो वह वसुमान और समझदार भिक्षु स्वयं अकार्य में प्रवृत्ति न करके आत्मघात कर ले। ऐसे संयोगों में उसके लिये ऐसा करना ही श्रेय है; यही मरण का योग्य अवसर है; यही उसके संसार को नष्ट करने वाली वस्तु है; यही उसके लिये धर्माचार

है, और हितकर, सुखकर, योग्य और सदा के लिये निःश्रेयसरूप है। [२१५]

यदि भिक्षु को ऐसा जान पड़े कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी का हूँ तो वह अपनी आत्मा को अकेला ही समझे। ऐसा समझने वाला भिक्षु उपाधि से मुक्त हो जाता है और उसका तप बढ़ता है। भगवान द्वारा बताये हुए इस मार्ग को बराबर समझ कर वह समभाव से रहे। [२१६]

यदि किसी भिक्षु को ऐसा जान पड़े कि मैं रोग से पीड़ित हूँ, अशक्त हूँ और भिक्षा के लिये एक घर से दूसरे घर नहीं जा सकता; उसकी ऐसी स्थिति समझ कर कोई दूसरा उसको आहार पानी लाकर दे तो उसको तुरन्त ही विचार कर कहना चाहिये कि, 'हे आयुष्मान् तुम्हारा लाया हुआ यह आहार-पानी मुझे स्वीकार करने योग्य नहीं है।' [२१६]

किसी भिक्षु का ऐसा नियम हो कि, बीमार होने पर मैं दूसरे को अपनी सेवा करने के लिये नहीं कहूँ पर ऐसी स्थिति में यदि समान धर्मी जो अपने आप ही मेरी सेवा करना चाहें तो स्वीकार कर लूँ; और इसी प्रकार मैं अच्छा हो जाऊँ तब कोई समान धर्मी बीमार हो जावे तो उसके न कहने पर मैं उसकी सेवा करूँ तो वह भिक्षु अपने नियम को बराबर समझ कर उस पर दृढ़ रहे। [२१७]

इसी प्रकार किसी भिक्षु का ऐसा नियम हो कि मैं दूसरे की सेवा करूँगा, पर अपनी सेवा दूसरे से नहीं कराऊँगा; अथवा मैं दूसरों की सेवा नहीं करूँगा पर दूसरे मेरी सेवा करेंगे तो इनकार

नहीं करूंगा; या मैं दूसरों की सेवा नहीं करूंगा और न उनसे अपनी ही कराऊँगा,—तो वह अपने नियम को बराबर समझ कर उस पर दृढ़ रहे। [२१७]

इस प्रकार की अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहना शक्य न हो तब प्रतिज्ञा भंग करने के बदले आहार त्याग कर मरण स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा न छोड़े। शांत, त्यागी तथा मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले भिक्षु के लिये ऐसे संयोगों में यही श्रेय है; यही उसके लिये मरण का योग्य अवसर है। (आदि सूत्र २१५ के अनुसार) [२१७]

बुद्धिमान भिक्षु जिस प्रकार जीने की इच्छा न करे, उसी प्रकार मरने की इच्छा भी न करे। मोक्ष के इच्छुक को तटस्थता पूर्वक अपनी प्रतिज्ञारूप समाधि की रक्षा करना चाहिये; और आन्तर तथा बाह्य पदार्थों की ममता त्याग कर आत्मा को (प्रतिज्ञा भंग से) भ्रष्ट न होने देने की इच्छा करना चाहिये। अपनी प्रतिज्ञा रूप समाधि की रक्षा के लिये जो उपाय ध्यान में आवे, उसी का तुरन्त प्रयोग करे। अन्त में अशक्य हो जाय तो वह गांव में अथवा जंगल में जीव-जन्तु से रहित स्थान देखकर वहां घास का बिछौना बनावे। फिर आहार का त्याग करके उस बिछौने पर वह भिक्षु अपने शरीर को रख दे और मनुष्य आदि उसको जो संकट दें उनको सहन करे पर मर्यादा का उल्लंघन न करे। [४–८]

नोट—यहाँ १ से २५ तक आठवे उद्देशक की संख्या है। इसमें सूत्र संख्या नहीं है।

ऊपर नीचे चलने वाले और वहां फिरने वाले जीव-जन्तु उस भिक्षु के मांस-लोही को खावें तो वह उनको मारे नहीं और उनको

उड़ावे तक नहीं । वे सब देह को ही पीड़ा देते हैं, ऐसा समझ कर मुनि एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जावे; परन्तु क्रोध, हिंसा आदि से दुःख पाने वाला वह भिक्षु सब कुछ सहन करे । अनेक प्रकार के बन्धनों से दूर रहने वाला वह भिक्षु इस प्रकार समाधि से आयुष्य को पूर्ण करे । संयमी और ज्ञानी मनुष्यों के लिये यही श्रेय है । [१०. ११]

: ४ :

यदि भिक्षु को ऐसा जान पड़े कि, मैं अब संयम-पालन के लिये इस शरीर को धारण करने में अशक्त हूँ, तब वह क्रमशः अपना आहार कम करता रहे, कषायों से निवृत्त हो और समाधि युक्त होकर पटिये के समान स्थिर रहे; फिर यदि एकदम अशक्य हो जाय तो गांव या नगर में जा कर घास मांग लावे । उसको लेकर एकान्त में जहां जीव-जन्तु, पानी, गीली मिट्टी कांई, जाले न हो ऐसे स्थान को बराबर देख-भाल कर वहाँ घास बिछावे । उस पर बैठ कर 'इत्वरित्त मरण' स्वीकार करे । फिर, अनाहार से रहते हुए जो दुःख आवें, उनको सहन करे पर दूसरों के पास से किसी प्रकार का उपचार न करावे । ऐसा करने पर यदि इन्द्रियाँ अकड़ जावें तो उनको हिलावे-डुलावे । ऐसा करते हुए भी वह अगर्ह्य, अचल और समाहित कहलाता है । मन स्वस्थ रहे और शरीर को कुछ अवलम्बन मिले तो उसके लिये वह चंक्रमण करे या शरीर को संकोचे या फैलावे, पर हो सके तो जड़ की तरह स्थिर रहे । थका हुआ भिक्षु इधर-उधर करवट बदले या अपने अंगों को सिकोड़ ले । बैठते २ थकने पर अन्त में सो भी जाय । [२२१-२२२, १२-१६]

इस प्रकार के अद्वितीय मरण को स्वीकार करके अपनी इन्द्रियों को वश में रखे । शरीर को सहारा देने के लिये जो पाटिया लिया

हो वह यदि दीमक आदि से भरा हुआ हो तो उसको त्याग कर दूसरा जीव रहित पटिया प्राप्त करे। जिससे पाप होता हो ऐसा कोई अवलम्बन न ले। सब दुःखों को सहन करे और उससे अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनावे। सत्यवादी, ओजस्वी, पारगामी, कलहहीन, वस्तु स्वरूप को समझने वाला संसार में नहीं फंसा हुआ वह भिक्षु क्षणभंगुर शरीर की ममता त्याग कर और अनेक संकट सहन कर के जिनशासन में विश्वास रखकर भय को पार कर जाता है। यह उसका मरण का अवसर है, यह उसके संसार को नष्ट करने वाला है वही विमोहायतन (धर्माचार) हित, सुख, क्षेम और सदा के लिये निःश्रेयसरूप है। [१७, १८, २२२]

उससे भी उत्कृष्ट निम्न मरण विधि है। वह घास मांग ला कर बिछावे, उस पर बैठ कर शरीर के समस्त व्यापार और गति का त्याग कर दे। दूसरी अवस्थाओं से यह उत्तम अवस्था है। वह ब्राह्मण अपने स्थान को बराबर देख कर अनशन स्वीकार करे। और सब अंगों का निरोध होता हो तो भी अपने स्थान से भ्रष्ट न हो। मेरे शरीर में दुःख नहीं है, ऐसा समझ कर समाधि में स्थिर रहे और काया का सब प्रकार से त्याग करे। जीवन भर संकट और आपत्तियाँ आवेंगी ही, ऐसा समझ कर शरीर का त्याग करके पाप को अटकाने वाला प्रज्ञावान भिक्षु सब सहन करे। क्षणभंगुर ऐसे शब्द आदि कामों में राग न करे और कीर्ति को अचल समझ कर उन में लोभ न रखे। कोई देव उसको मानुषिक भोगों की अपेक्षा शाश्वत दिव्य वस्तुओं से ललचावे तो ऐसी देवमाया पर श्रद्धा न रखे और उसका स्वरूप समझ कर उसका त्याग करे। सब अर्थों में अमूर्छित और समाधि से आयुष्य के पार पहुँचाने

वाला भिक्षु तितिक्षा को उत्तम विमोहरूप (मोह से मुक्ति-विमोह) और हितरूप समझकर समाधि में रहे । [२२६, १६–२५]

क्रमशः वर्णन की हुई इन तीनों मरण विधियों को सुनकर, उनको अपूर्व जान कर और प्रत्येक तप के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों भेदों को ध्यान में रख कर धीर, वसुमान, प्रज्ञावान और बुद्ध पुरुष धर्म के पारगामी होते हैं । [१–२]

टिप्पणी—कामवासना के लिये मूलमें 'शीतस्पर्श' शब्द है । शीतस्पर्श शब्द से ठंड-गरमी और स्त्री के उपद्रव का अर्थ लिया जाता है । यदि कोई दुष्ट स्त्री भिक्षु को घर में ले जाकर फंसा ले और वहां से भ्रष्ट हुए बिना बाहर आना शक्य न हो तो वह चाहे जिस प्रकार से वहीं आत्मघात कर ले; अथवा दुर्बल शरीर का भिक्षु ठंड-गरमी या रोगों के दुःखों को बहुत समय तक सहन न कर सकता हो तो भी आत्मघात कर ले । जैन शास्त्र में भक्तपरिज्ञा, इत्वरित और पादपोपगमन मरणविधियाँ विहित हैं । पर ये दृढ़ संकल्प वाले मनुष्यों के लिये है । सूत्र २१५ से १०–११ तक ये भक्तपरिज्ञा मरण विधि का वर्णन है । इत्वरित मरण का वर्णन सूत्र २२१ से २२२ तक है और २२५–२२६ में पादपोपगमन (वृक्षके समान निश्चेष्ट होना) का वर्णन है ।

नौवां अध्ययन

—(०)—

भगवान महावीर का तप

[उपधान]

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

हे आयुष्मान् जंबु! श्री महावीर भगवान की तपश्चर्या का वर्णन जैसा मैं ने सुना है वैसा ही तुझे कहता हूँ। उन श्रमण भगवान ने प्रयत्नशील हो कर, संसार के दुःखों को समझकर प्रव्रज्या स्वीकार की और उसी दिन हेमन्त ऋतु की सर्दी में ही बाहर निकल पड़े! उस कड़कड़ाती सर्दी में वस्त्र से शरीर को न ढकने का उनका संकल्प दृढ़ था और जीवनपर्यंत कठिन से कठिन कष्टों पर विजय पाने वाले भगवान के लिये यही उचित था। [१–२]

अरण्य में विचरने वाले भगवान को छोटे–बड़े अनेक जंतुओंने चार महिने तक बहुत दुःख दिये और इनका मांस लोही चूसा। [३]

तेरह महिने तक भगवान ने वस्त्र को कन्धे पर ही रख छोड़ा। फिर दूसरे वर्ष शिशिर ऋतु के आधी बीत जाने पर उसको छोड़ कर भगवान सम्पूर्ण 'अचेलक'—वस्त्ररहित हुए। [४, २२]

वस्त्र न होने पर भी और सख्त सर्दी में वे अपने हाथों को लम्बे रखकर ध्यान करते। सर्दी के कारण उन्होंने किसी भी दिन हाथ बगलमें नहीं डाले। कभी कभी वे सर्दी के दिनों में छाया में बैठकर ही ध्यान करते तो गर्मी के दिनों में धूप में बैठ कर ध्यान करते। [२२, १६–७]

उस समय शिशिर ऋतु में पाला गिरने या हवा चलने के कारण अनेक लोग तो कांपते ही रहते और कितने ही साधु उस समय बिना हवा के स्थानों को ढूंढते, कितने ही कपड़े पहिनने का विचार करते और कितने ही लकड़ी जलाते ! उस समय जितेन्द्रिय और आकांक्षा रहित वे भगवान इस सर्दी को खुले में रह कर सहन करते किसी समय सर्दी के असह्य हो जाने पर भगवान सावधानी से रात्रि को बाहर निकलकर कुछ चलते। [२६-२८]

वस्त्र रहित होने के कारण तृण के स्पर्श, ठंड-गरमी के स्पर्श और डांस-मच्छर के स्पर्श-इस प्रकार अनेक स्पर्श भगवान महावीर ने समभाव से सहन किये थे। [४०]

भगवान चलते समय आगे-पीछे पुरुष की लम्बाई जितने मार्ग पर दृष्टि रख कर, टेढ़े-मेढ़े न देखकर मार्ग की तरफ ही दृष्टि रख कर सावधानी से चलते, कोई बोलता तो वे बहुत कम बोलते और दृष्टि स्थिर करके अन्तर्मुख ही रहते। उनको इस प्रकार नग्न देख कर और उनके स्थिर नेत्रों से भयभीत हो कर लड़कों का झुंड उनका पीछा करता और चिल्लाता रहता था। [५, २१]

उजाड़ घर, सभास्थान, प्याऊ और हाट—ऐसे स्थानों में भगवान अनेक बार ठहरते, तो कभी लुहार के स्थान पर तो कभी धर्मशालाओं में, बगीचों में घरों में या नगर में ठहरते थे। इस प्रकार श्रमण ने तेरह वर्ष से अधिक समय विताया। इन वर्षों में रात-दिन प्रयत्नशील रह कर भगवान अप्रमत्त होकर समाधि पूर्वक ध्यान करते, पूरी नींद न लेते; नींद मालूम होने पर उठ कर आत्मा को जागृत करते। किसी समय वे करवट से हो जाते, पर वह निद्रा की इच्छा से नहीं। कदाचित् निद्रा आ ही जाती तो वे उसको

प्रमाद बढ़ाने वाली समझ कर, उठ कर दूर करते। कभी कभी मूहूर्त तक रात में चंक्रमण करते रहते। [२४-२६]

उन स्थानों पर भगवान को अनेक प्रकार के भयंकर संकट पड़े। उन स्थानों पर रहने वाले जीव-जन्तु उनको कष्ट देते। नीच मनुष्य भी भगवान को बहुत दुःख देते। कई बार गांव के चौकीदार हाथ में हथियार ले कर भगवान को सताते। कभी कभी विषय वृत्ति से स्त्रियाँ या पुरुष भगवान को तंग करते। रात में अकेले फिरने वाले लोग वहां भगवान को अकेला देख कर उनसे पूछताछ करते। भगवान के जवाब न देने पर तो वे चिढ़ ही जाते थे। कोई पूछता कि यह कौन है? तो भगवान कहते, 'मैं भिक्षु हूँ।' अधिक कुछ न कहने पर वे भगवान पर नाराज हो जाते पर भगवान तो ध्यान ही करते रहते। [२०-२१, २४-२५]

जहां दूसरे अनेक लोग ठहरते थे, वहां रहने पर भगवान स्त्रियों की तरफ दृष्टि तक न करते, परन्तु अन्तर्मुख रह कर ध्यान करते थे। पुरुषों के साथ भी वे कोई सम्बन्ध न रख कर ध्यान में ही मग्न रहते थे। किसी के पूछने पर भी वे जवाब न देते थे। कोई उनको प्रणाम करता तो भी वे उनकी तरफ न देखते थे। ऐसे समय उनको मूढ़ मनुष्य मारते और सताते थे। वे यह सब समभाव से सहन करते थे। इसी प्रकार आख्यान, नाटक, गीत, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध और परस्पर कथावार्ता में लगे हुए लोगों की ओर कोई उत्सुकता रखे बिना वे शोकरहित ज्ञातपुत्र मध्यस्थ दृष्टि ही रखते थे। असह्य दुःखों को पार करके वे मुनि समभाव से पराक्रम करते थे। इन संकटों के समय वे किसी की शरण नहीं ढूंढते थे। [६-१०]

भगवान दुर्गम प्रदेश लाढ़ में, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि में भी विचरे थे। वहां उनको एकदम बुरी से बुरी शय्या और आसन

काम में लाने पड़े थे। वहां के लोग भी उनको बहुत मारते, खाने को रूखा भोजन देते और कुत्ते काटते थे। कुछ लोग उन कुत्तों को रोकते थे तो कुछ लोग कुत्तों को उन पर छुछाकर कटवाते थे। कुत्ते काट न खावें इस लिये दूसरे श्रमण हाथ में लकड़ी लेकर फिरते थे। कितनी ही बार कुत्ते काटते और भगवान की मांस पेशियों को खींच डालते थे। इतने पर भी ऐसे दुर्गम लाढ़ प्रदेश में हिंसा का त्याग करके और शरीर की ममता छोड़ कर वे अनगार भगवान सब संकटों को समभाव से सहन करते और उन्होंने संग्राम में आगे रहने वाले विजयी हाथी के समान इन संकटों पर जय प्राप्त की। अनेक बार लाढ़ प्रदेश में बहुत दूर चले जाने पर भी गांव ही न आता; कई बार गांव के पास आते ही लोग भगवान को बाहर निकाल देते और मार कर दूर कर देते थे; कई बार वे भगवान के शरीर पर बैठ कर उनका मांस काट लेते थे; कई बार उन पर धूल फेंकी जाती थी, कई बार उनको ऊपर से नीचे डाल दिया जाता था; तो कभी उनको आसन पर से धकेल दिया जाता था। [४१-४२]

दीक्षा लेने के पहिले भी भगवान् ने दो वर्ष से अधिक समय से ठंडा पानी पीना छोड दिया था। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, काई, वनस्पति और त्रस जीव सचित्त हैं ऐसा जान कर भगवान उनको बचा कर विहार करते थे। स्थावर जीव त्रसयोनि में आते हैं और त्रस जीव स्थावर योनि में जाते हैं, अथवा सब योनियों के वाले जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार उन उन योनियों में भटकते रहते हैं, ऐसा समझ कर भगवान ने यह निश्चित किया कि उपाधि वाले वाले जीव सदा बन्धन को प्राप्त होते हैं। फिर भगवान ने सब प्रकार से कर्मका स्वरूप जान कर पाप का त्याग किया [११- १४]

कर्म के दो प्रकार [१ ऐर्यापथिक—चलने-फिरने आदि आवश्यक क्रियाओं से होने वाली हिंसा के कारण बंधने वाला कर्म जो बंध होते ही नाशको प्राप्त हो जाता है। २ सांपरायिक—कषाय के कारण बंधने वाला कर्म जिसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।] जान कर असाधारण ज्ञानवाले मेधावी भगवान ने कर्मों का नाश करने के लिये अनुपम क्रिया का उपदेश दिया है। प्रवृत्ति और तज्जन्य कर्म-बन्धन को समझ कर भगवान स्वयं निर्दोष अहिंसा में प्रवृत्त होते थे। भगवान ने स्त्रियों को सर्व पाप का कारण समझ कर उनका त्याग किया था। वस्तु का स्वरूप बराबर समझ कर महावीर कभी पाप नहीं करते थे, दूसरों से न कराते थे, करनेवाले को अनुमति नहीं देते थे। [१६-१७, ६१]

भगवान ने अपने लिये तैयार किया हुआ भोजन कभी नहीं लिया। इसका कारण यह कि वे इसमें अपने लिये कर्मबन्ध समझते थे। पापमात्र का त्याग करने वाले भगवान निर्दोष आहार-पानी प्राप्त करके उसका ही उपयोग करते थे। वे कभी भी दूसरे के पात्र में भोजन नहीं करते थे और न दूसरों के वस्त्र ही काम में लाते थे। मान-अपमान को त्याग कर, किसी की शरण न चाहने वाले भगवान भिक्षा के लिये फिरते थे। [१८-१९]

भगवान आहार-पानी के परिमाण को बराबर समझते थे, इस कारण वे कभी रसों में ललचाते न थे और न उसकी इच्छा ही करते थे। चावल, बेर का चूरा और खिचड़ी को रूखा खाकर ही अपना निर्वाह करते थे। भगवान ने आठ महिने तक तो इन तीनों चीज़ों पर निर्वाह किया। भगवान महिना, आधा महिना पानी तक न पीते थे। इस प्रकार वे दो महिने या छै महिने तक विहार ही

करते रहते थे। सदा आकांक्षा रहित रहने वाले भगवान किसी समय ठंडा अन्न खाते; तो किसी समय छै, आठ, दस या बारह भक्त के बाद भोजन करते थे। [५८–६०]

गांव या नगर में जाकर वे दूसरों के लिये तैयार किया हुआ आहार सावधानी से खोजते थे। आहार लेने जाते समय मार्ग में भूखे प्यासे कौए आदि पक्षियों को बैठा देखकर, और ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी अतिथि, चांडाल, कुत्ते, बिल्ली आदि को घरके आगे देखकर, उनको आहार मिलने में बाधा न हो या उनको अप्रीति न हो, इस प्रकार भगवान वहाँ से धीरे धीरे चले जाते और दूसरे स्थान पर अहिंसा पूर्वक भिक्षा को खोजते थे। कई बार भिगोया हुआ, सूखा या ठंडा आहार लेते थे, बहुत दिनों की खिचडी, बाकले, और पुलाग (निस्सार खाद्य) भी लेते थे। ऐसा भी न मिल पाता तो भगवान शांतभाव से रहते थे। [६२–६७]

भगवान नीरोग होने पर भी भरपेट भोजन न करते थे और न औषधि ही लेते थे। शरीर का स्वरूप समझ कर भगवान उसकी शुद्धि के लिये संशोधन (जुलाब), वमन, विलेपन, स्नान और दंत प्रक्षालन नहीं करते थे। इसी प्रकार शरीर के आराम के लिये वे अपने हाथ-पैर नहीं दबवाते थे। [५४–५५]

कामसुखों से इस प्रकार विरत होकर वे अबहुवादी ब्राह्मण विचरते थे। उन्होंने कषायों की ज्वाला शांत कर दी थी और उनका दर्शन विशद था। अपनी साधना में वे इतने निमग्न थे कि उन्होंने कभी अपनी आंख तक न मसली और न शरीर को ही खुजाया। रति और अरति पर विजय प्राप्त करके उन्होंने इस लोक के और

देव–यक्ष आदि के अनेक भयंकर संकटों, अनेक प्रकार के शब्द और गन्ध को समभाव से सहन किया था। [४६, ११, २०, ३२–३३]

भगवान अनेक प्रकार के ध्यान अचंचल रह कर अनेक प्रकार के आसन से करते थे और समाधिदक्ष तथा आकांक्षा रहित हो कर भगवान ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् लोक का विचार करते थे। कषाय, लालच, शब्द, रूप और मूर्छा से रहित होकर साधकवृत्ति में पराक्रम करते हुए भगवान जरा भी प्रमाद न करते थे। अपने आप संसार का स्वरूप समझ कर आत्मशुद्धि में सावधान रहते और इसी प्रकार जीवन भर शांत रहे। [६७–६८]

मुमुक्षु इसी प्रकार आचरण करते हैं; ऐसा मैं कहता हूं। [७०]

* आचारांग सूत्र *

द्वितीय खण्ड

पहिला अध्ययन

—(०)—

भिक्षा

श्री सुधर्मास्वामीने कहा—

सब विषयों में रागद्वेष से रहित हो कर अपने कल्याण में तत्पर रह कर सदा संयम से रहने में ही भिक्षु और भिक्षुणी के आचार की सम्पूर्णता है। भिक्षा में कर्मबन्धन का कारण विशेष सम्भव है, इस लिये भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में बड़ी गंभीर शिक्षा दी है। उसको मैं कह सुनाता हूँ, तुम सब सुनो। [६]

भिक्षा के लिये कहाँ जावे ?

भिक्षु, (सर्वत्र इस शब्द में भिक्षु और भिक्षुणी दोनों को लिया गया है) उग्रकुल (आरक्षक क्षत्रिय), भोगकुल (पूज्य-श्रेष्ठ कुल), राजन्य कुल (मित्रराजाओं के कुल), क्षत्रिय कुल, इक्ष्वाकु कुल (श्री आदीश्वर का कुल), हरिवंशकुल (श्री नेमिनाथ का कुल), और ग्वाल, वैश्य, नाइ (मूल में 'गंडाग'), सुतार और बुनकर आदि के अतिरस्कृत और अनिंदित कुलों में भिक्षा मांगने जावे। [११]

भिक्षा मांगने कहाँ न जावें ?

परन्तु चक्रवर्ती आदि क्षत्रिय, राजा, ठाकुर, राजकर्मचारी और राजवंशियों के यहां से भिक्षा न ले, फिर भले ही वे शहर में रहते

हों, बाहर पडाव डाले हों, यात्रा में हों, या उनके यहां से निमन्त्रण मिला हो या न मिला हो। [२१]

टिप्पणी–ये सब अतिरस्कृत कुल हैं पर वहाँ दूसरे दोष होने के कारण इनका निषेध किया गया है।

और, जिन घरों पर सदा अन्नदान दिया जाता हो, प्रारम्भ में देव आदि के निमित्त अग्रपिंड अलग रख दिया जाता हो या भोजन का आधा या चौथा भाग दान में दिया जाता हो और इनके कारण वहां अनेक याचक सदा आते हों; वहां भिक्षा के लिये कभी न जावे। [६]

और, भिक्षा के लिये जाते हुए मार्ग में गढ़, टेकरी, गड्ढे, खाई, कोट, दरवाजे या अर्गला पड़ती हो तो उस मार्ग पर वह भिक्षा के लिये न जावे। यह मार्ग सीधा और छोटा हो तो भी इस पर न जावे क्योंकि भगवान ने इस मार्ग से जाने में अनेक दोष बताये हैं। दूसरा रास्ता हो तो भले ही उधर जावे। जिस मार्ग से जाने से गिर पड़े और लग जावे या वहां पड़े हुए मल–मूत्र आदि शरीर से लग जावे, उधर न जावे। यदि कभी ऐसा हो जाय तो शरीर को सजीव, गीली मिट्टी, पत्थर, ढ़ेले या लकड़ी आदि से न पोंछे परन्तु किसी के पास से निर्जीव घास, पत्ते, लकड़ी या रेती मांग लावे और एकान्त में निर्जीव स्थान देख कर, उसे साफ़ कर हां साधवानी से शरीर को पोंछ ले। [२६]

इसी प्रकार जिस मार्ग में मरकने भयंकर पशु खड़े हों अथवा ड्ढे, कीले, कांटे, दरार या कीचड़ हो अथवा जहां मुर्गे, कौए आदि सी और सुअर आदि जानवर बलि खाने को इकट्ठे हों उस मार्ग

से होकर भी भिक्षा के लिये न जावे। पर दूसरा मार्ग लम्बा हो तो भी उसी से जावे। [२७, ३१]

भिक्षा मांगने किस प्रकार जावे?

भिक्षु भिक्षा मांगने जाते समय अपने वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि सर्व साधन (धर्मोपकरण) साथ में ले जावे। यही नियम स्वाध्याय करने जाते समय, मलमूत्र करने जाते समय या दूसरे गांव जाते समय के लिये भी है। परन्तु जब दूर तक पानी बरसता जान पड़े या दूर तक कुहरा गिरता दिखे या जोरकी आंधी के कारण धूल उड़ती हो या अनेक जीव-जन्तु इधर-उधर उठते दिखें तो सब साधन साथ में लेकर भिक्षा मांगने या स्वाध्याय करने को न निकले। [१६-२०]

भिक्षा मांगने किस प्रकार न जावे?

भिक्षु भिक्षा मांगने किसी अन्य सम्प्रदाय के मनुष्य के साथ, गृहस्थ के साथ या अपने ही धर्म के कुशील साधु के साथ न जावे आवे और उनको आहार न दे और न दिलावे। यही नियम स्वाध्याय, शौच और गांव जाने के लिये भी है। [४-९]

भिक्षु भिक्षा मांगने जाते समय गृहस्थ के घरका डाल-झांकड़ों से बन्द दरवाजा उसकी अनुमति के बिना, जीवजन्तु देखे बिना खोल कर अन्दर न जावे। उसकी अनुमति लेकर और देखभाल कर ही भीतर जाना और बाहर आना चाहिये। [२८]

भिक्षु भिक्षा मांगने जाते समय गृहस्थ के घर श्रमण, ब्राह्मण आदि याचकों को अपने से पहिले ही भीतर देख कर उनको लांघ कर भीतर न जावे, परन्तु किसी का आनाजाना न हो ऐसी अलग

जगह में सबकी दृष्टि से बच कर खड़ा रहे; और मालुम होने पर कि वे सब आहार लेकर अथवा न मिलने से वापिस चले गये हैं, तब सावधानी से भीतर जा कर भिक्षा ले। नहीं तो हो सकता है, वह गृहस्थ मुनि को आया देख कर उन सबको अलग करके अथवा उसके लिये फिर भोजन तैयार करके उसको आहार दे; इस लिये साधु ऐसा न करे। [२९-३०]

भिक्षु गृहस्थ के यहां भिक्षा मांगते समय उसके दरवाजे से लग कर खड़ा न हो, उसके पानी डालने या कुल्ला करने के स्थान पर खड़ा न हो, उसके स्नान करने या मल त्याग के स्थान पर दृष्टि गिरे इस प्रकार वा उनके रास्ते में खड़ा न हो, तथा घर की खिड़कियों या कामचलाऊ आड़ या छिद्र अथवा पनडेरी की तरफ हाथ उठाकर या इशारा करके ऊंचा-नीचा हो कर न देखे। वह गृहस्थ से (ऐसा-ऐसा दो) अंगुली बता कर न मांगे। उसको इशारा कर, धमका कर, खुजला कर या नमस्कार करके कुछ नहीं मांगना चाहिये और यदि वह कुछ न दे तो भी कठोर वचन नहीं कहना चाहिये। [३२]

भिक्षा मांगने कब न जावे ?

गृहस्थ के घर भिक्षा मांगने जाने पर मालुम हो कि अभी गायें दोही जा रही हैं, भोजन तैयार हो रहा है और दूसरे याचकों को अभी कुछ नहीं दिया गया तो भीतर न जावे परन्तु किसी की दृष्टि न गिरे, इस प्रकार अलग खड़ा रहे; फिर मालुम होने पर कि गायें दोह ली गई, भोजन तैयार हो चुका और याचकों को दिया जा चुका है तब सावधानी से जावे। [२२]

किसी गांव में वृद्धावस्था के कारण स्थिरवास करने वाले (समाणा) या मास-मास रहने वाले (वसमाणा) भिक्षुक, गांव-गांव फिरने वाले भिक्षुक को ऐसा कहे कि, यह गांव बहुत छोटा है अथवा बड़ा होने पर भी सूतक आदि के कारण अनेक घर भिक्षा के लिये बन्द हैं, इस लिये तुम दूसरे गांव जाओ। तब भिक्षु उस गांव में भिक्षा के लिये न जा कर दूसरे गांव चला जावे। [२३]

गृहस्थ के घर भिक्षा के लिये जाने पर ऐसा जान पडे कि यहां मांस-मछली आदि का कोई भोज हो रहा है और उसके लिये वस्तुएँ ली जा रही हैं, मार्ग में अनेक जीवजन्तु, बीज और पानी पड़ा हुआ है और वहां श्रमण, ब्राह्मण आदि याचकों की भीड़ लगी हुई है या होने वाली है और इस कारण वहां उसका जाना आना वाचन और मनन निर्विघ्नरूप से नहीं हो सकता तो वह वहां भिक्षा के लिये न जावे। [२२]

भोज

भिक्षु यह जान कर कि अमुक स्थान पर भोज (संखडि) है, दो कोस से बाहर उसकी आशा रखकर भिक्षा के लिये न जावे परन्तु पूर्व दिशा में भोज हो तो पश्चिम में चला जावे; पश्चिम में हो तो पूर्व में चला जावे। इसी प्रकार उत्तर और दक्षिण दिशा के लिये भी करे। संक्षेप में, गांव, नगर या किसी भी स्थान में भोज हो तो वहां न जावे। इसका कारण यह कि भोज में उसको विविध दोष युक्त भोजन ही मिलेगा; अलग अलग घरसे थोड़ा थोड़ा इकट्ठा किया हुआ भोजन नहीं। और वह गृहस्थ भिक्षु के कारण छोटे दरवाजे वाले स्थान को बडे दरवाजे वाला करेगा या बड़े दरवाजे वाले

को छोटा; सम स्थान को विषम या विषम को सम करेगा; हवा वाले स्थान को बन्द या बन्द को हवा वाला करेगा; और साधु को अकिंचन मान कर स्थानक (उपाश्रय) के भीतर और बाहर की वनस्पति कटवा कर डालेगा और उसके लिये कुछ बिछा देगा। इस लिये निर्ग्रन्थ संयमी मुनि (जात कर्म, विवाहादि आदि) पहिले किये जाने वाले या (श्राद्ध आदि) पीछे किये जाने वाले भोजों में भिक्षा के लिये न जावे। [१३]

और, भोज में अधिक और घृष्ट भोजन खाने-पीने से बराबर न पचने के कारण दस्त, उल्टी और शूल आदि रोग भी हो जाते हैं। सम्भव है कि वह एकत्रित हुए गृहस्थों, गृहस्थों की स्त्रियों और दूसरे भिक्षुओं के साथ मदिरा पी कर वहीं नशे में चूर होकर गिर जावे और अपने स्थान पर भी न जा सके और नशे में अपना भान भूल कर स्वयं स्त्री आदि में आसक्त बने या स्त्री आदि उसको लुभा कर योग्य स्थान और समय देखकर मैथुन में प्रवृत्त करावे। [१४-१५]

और सम्भव है वहां अनेक याचकों के आजाने के कारण भीड़ भाड़, धक्कामुक्का, मारपीट भी हो जाय; उससे हाथ-पैर में लग जावे, मार पड़े, कोई धूल डाले या पानी छींटे। वह गृहस्थ बहुत से याचकों का आया देखकर उनके लिये फिर भोजन तैयार करावे या वहाँ इनमें भोजन के लिये छीना-झपटी मच जावे।

इस प्रकार भोज में भगवान ने अनेक दोष बताये हैं। इस लिये भिक्षु भोज में भिक्षा मांगने न जावे, पर थोड़ा-थोड़ा निर्दोष आहार अनेक घरों से मांग ला कर खावे। [१७]

कैसा आहार ले—कैसा न ले?

गृहस्थ जिस पात्र में या हाथ में आहार देने के लिये लाया हो वह बारीक जन्तु, बीज या वनस्पति आदि सजीव वस्तु से मिश्रित या सजीव पानी से गीला हो, अथवा उस पर सजीव धूल पड़ी हुई हो तो उसको दोषित जानकर भिक्षु न ले। यदि भूल से ऐसा आहार लेने में आ जावे तो उसको लेकर एकान्त स्थान में, बाड़े में अथवा स्थानक में जावे और निर्जीव स्थान पर बैठ कर उस आहार में से जीवजन्तु वाला भाग अलग कर दे तथा जीवजन्तु बीनकर अलग निकाल दे, बाकी का आहार संयमपूर्वक खा-पी ले और यदि वह खाने-पीने के योग्य न जान पड़े तो उसको एकान्त में ले जाकर जली हुई जमीन पर या हड्डी, कचरे, छिलके आदि के घूरे पर देख भाल कर संयमपूर्वक डाल दे। [१]

भिक्षा के समय यदि ऐसा जान पड़े कि कोई धान्य, फल, फली आदि चाकू आदि से या अग्नि से तोडी, कतरी या पकाई न जाने से सारी और सजीव है, और उनकी ऊगने की शक्ति अभी नष्ट नहीं हुई है तो गृहस्थ के देने पर भी भिक्षु उन वस्तुओं को न ले। पर यदि ये पदार्थ पकाये गये हों, सेके गये हों, तोडे-कतरे गये हों और निर्दोष मालुम पड़े तो ही उनको ले। [२]

पोहे, पुरपुरे, धानी आदि एक ही बार भूने जाने पर सजीव मालुम पड़ते हों तो, उनको भी न ले; पर दो-तीन बार भूने जाने पर पूरी तरह निर्जीव हो गये हो तो ही ले। [३]

मुनि कंद, फल, कोंपल, मौर और केले आदि का गिर तथा अग्रबीज, शाखाबीज या पर्वबीज आदि वनस्पतियाँ चाकू आदि से

कतरी होने से निर्जीव होगई हो तो ही ले। इसी प्रकार उंबरा बड, पीपल, पीपली आदि के चूर्ण कच्चे या कम पिसे हुए, सजीव हों तो न ले। अधपकी हुई शाकभाजी, या सड़ी हुई शहद, मद्य घी, खोल, आदि वस्तुएँ पुरानी हो जाने के कारण उनमें जीवजन्तु हों तो न ले। अनेक प्रकार के फल, कंद आदि चाकू से कतरे हुए निर्जीव हों तो ही ले। इसी प्रकार अन्न के दाने, दाने वाली रोटी, चावल, चावल का आटा, तिल्ली, तिल्ली का चूरा और तिलपापड़ी आदि निर्जीव न हों तो न ले। [४८]

भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षा लेते समय गृहस्थ के घर किसी को जीमते देख कर उससे कहे कि, 'हे आयुष्मान्! इस भोजन में से मुझे कुछ दो।' यह सुन कर वह अपने हाथ बर्तन या कड़छी ठंडे सजीव पानी से अथवा ठंडा हो जाने पर सजीव हुए गरम पानी से धोने लगे तो भिक्षु को कहना चाहिये कि, 'हाथ या बर्तन को सजीव पानी से धोए बिना ही तुमको जो देना हो दो।' इतने पर भी वह हाथ आदि धोकर ही देने लगे तो भिक्षु उसको सजीव और सदोष मान कर न ले। इसी प्रकार यदि गृहस्थ ने भिक्षु को भिक्षा देने के लिये ही हाथ धोये न हों पर यों ही वे गीले हों अथवा मिट्टी या अन्य सजीव वस्तु से वे भरे हुए हों तो भी ऐसे हाथों से दिया जाने वाला आहार वह न ले। परन्तु यदि उसके हाथ ऐसी किसी चीज़ से भरे हुए न हों तो वह निर्जीव और निर्दोष आहार को ले ले। [३३]

पोहे, ठिरूं, चावल आदि को गृहस्थ ने जीवजन्तु, बीज या वनस्पति जैसी सजीव वस्तु लगी हुई शिला पर बांटा हो, बांटता हो या बांटने वाला हो; अथवा हवा में उनको उफना हो, उफनता हो

या उफनने वाला हो तो भिक्षु उनको सजीव और सदोष जान कर न ले। इसी प्रकार ऐसी शिला पर पीसे गये बीड़ नमक और सुमुद्रनमक को भी न ले। [२४–२९]

गृहस्थ के घर आग पर रखा हुआ आहार भी भिक्षु सदोष जान कर दिये जाने पर भी न ले, इसका कारण यह कि गृहस्थ भिक्षु के लिये उसमें से आहार निकालते या डालते समय, उस बर्तन को हिलाने से अग्निकाय के जीवों की हिंसा करेगा। अथवा आग को कम-ज्यादा करेगा। [२६ २८]

गृहस्थ दीवार, खम्भे, खाट, मंजिल आदि ऊंचे स्थान पर रखा हुआ आहार लाकर भिक्षु को देने लगे तो वह उसको सदोष जान कर न ले, इसका कारण यह कि ऐसे ऊंचे स्थान से आहार निकालते समय पाट, नसैनी आदि लगा कर चढ़ने लगे और गिर जाय तो उसके हाथ-पैर में लग जाय और दूसरे जीवजन्तु भी मरें। इसी प्रकार कोठी, खो आदि आदि स्थान से आहार लाते समय भी गृहस्थ को ऊंचा, नीचा और टेढ़ा होना पड़ता हो तो उसको भी न ले। [३७]

मिट्टिसे लीप कर बंध किया हुआ आहार भी न ले। क्योंकि उसको निकालते समय और फिरसे लीप कर बंध करते समय अनेक पृथ्वी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों की हिंसा होती है। सजीव पृथ्वी, पाणी, वनस्पति या त्रस जीवों पर रक्खा हुआ आहार भी न ले। [३८]

आहार के अत्यन्त गरम होने से गृहस्थ उसको सूपड़े, पंखे, पत्ते, डाली, पींछे, कपड़े, हाथ या मुंह से फूक कर या हवा करके

ठंडा कर देने लगे तो भिक्षु न ले, परन्तु पहिले ही से कह दे कि ऐसा किये बिना ही आहार देना हो तो दो। [२६]

मुनि गन्ने की गांठ, गांठ वाला भाग, रस निकाल लिये हुए टुकडे, गन्ने का लम्बा हिस्सा या उसका टुकड़ा अथवा मूंग आदि की बफ़ी हुई फली आदि वस्तुएँ जिनमें खाने का कम और छोड़ने का अधिक हो, को न ले। [५८]

(भिक्षु ने खांड मांगी हो और) गृहस्थ (भूल से) समुद्रनमक या बीड़ नमक लाकर दे, और भिक्षु को मालुम हो जाय तो न ले। पर यदि गृहस्थ उसको जल्दी से पात्र में डाल दे और बाद में भिक्षु को मालुम हो जाय तो वह दूर चले जाने के बाद भी वापिस उस गृहस्थ के पास आवे और उससे पूछे कि, तुमने मुझे यह जानते हुए दिया या अजानते हुए? यदि वह कहे कि, "मैं ने जानते हुए तो नहीं दिया पर अब राजी से आपको देता हूँ।" इस पर वह उसको खाने के काम में ले ले। यदि बढ़े तो अपने पास के समान धर्मी मुनियों को दे दे। ऐसा संभव न हो तो अधिक आहार के नियम से उसको निर्जीव स्थान पर डाल दे। [५६]

जिस आहार को गृहस्थ ने एक या अनेक निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी के उद्देश्य से या किसी श्रमणब्राह्मण आदि के उद्देश्य से जीवों (छ:काय) की हिंसा करके तैयार किया हो, खरीदा हो, मांग लाया हो, छीन लाया हो, (दूसरे के हिस्से का) संमति बिना लाया हो, मुनि के स्थानपर घर से, गांव से ले जाकर दिया हो तो उस सदोप आहार को भिक्षु कदापि न ले।

जिस आहार को गृहस्थ ने गिन कर नहीं पर यों ही श्रमण ब्राह्मणों के लिये ऊपर लिखे अनुसार तैयार किया हो, और उसको सबको देने के बाद गृहस्थने अपने लिये न रखा हो, या अपने खाने के लिये बाहर न निकाला हो या खाया न हो तो न ले। परन्तु सबको दिये जाने के बाद गृहस्थ ने अपने लिये समझकर ही रखा हो तो निर्दोष जानकर उसको ले ले। [६-८]

इसी प्रकार अष्टमी के पोषध व्रत के उत्सव पर या पाक्षिक, मासिक, द्विमासिक चातुर्मासिक या छःमासिक उत्सव पर अथवा ऋतु के या उसके प्रथम या अन्त के दिन, अथवा मेला, श्राद्ध या देवदेवी के महोत्सव पर श्रमण-ब्राह्मण आदि याचकों को एक या अनेक हंडी में से, कुंभी में से, टोकरी या थैली में से गृहस्थ आहार परोसता हो, उसको भी जब तक सबको देने के बाद उस गृहस्थ ने उसको अपना ही न समझ लिया हो, तब तक उसको सदोष समझ कर न ले। पर सबको दिये जाने के बाद गृहस्थ ने उसको अपना समझ कर रखा हो तो उसको निर्दोष समझ कर ले ले। [१०,१२]

कितने ही भद्र गृहस्थ ऐसा समझ कर कि ज्ञान, शील, व्रत, गुण, संवर, संयम और ब्रह्मचर्यधारी उत्तम मुनि उनके लिये तैयार किये हुए आहार को नहीं लेते, तो हम अपने लिये ही आहार तैयार करके उनको दे दें और अपने लिये फिर तैयार कर लेंगे। मुनि इस बात को जानने पर उस आहार को सदोष समझ कर न ले। [४६]

भिक्षा के समय मुनि के लिये कोई गृहस्थ उपकरण या आहार तैयार करने लगे तो वह उसको तुरन्त ही रोक दे, ऐसा भी

न सोचे कि अभी तो उसको तैयार करने दो पर लेते समय मना कर दूँगा। और मना करने पर भी गृहस्थ आहार-पानी तैयार करके देने लगे तो उसे कदापि न ले [५०]

भिक्षु, ऐसा समझकर कि अमुक स्थान पर विवाह-मृत्यु के कारण भोज है, और वहाँ अवश्य ही भोज हैं, ऐसा निश्चय करके भिक्षा के लिये वहाँ उत्सुकता से दौड़ पड़े तो वह दोष का भागी है। परन्तु योग्य काल में अलग अलग घर से थोड़ा थोड़ा निर्दोष आहार वह मांग लावे। [१६]

गृहस्थ के घर भिक्षा मांगने पर आहार के निर्दोष होने में शंका हो तो उसे भिक्षु स्वीकार न करे। [१८]

गृहस्थ के घर अनेक वस्तुएँ तली जा रही हों तो जल्दी जल्दी जा कर उनको न मांगे, किसी बीमार मुनि के लिये जाना हो अलग बात है। [५१]

किसी गृहस्थ के घर आहार में से प्रारम्भ में देव आदि का अग्रपिंड अलग निकाल दिया जाता है। उस अग्रपिंड को निकालते या देवमंदिर आदि में चारों तरफ रखा जाता देख कर, उसको पहिले खाया या लिया हो तो श्रमण ब्राह्मण उस तरफ जल्दी जल्दी जाते हैं। उनको देखकर भिक्षु भी जल्दी जल्दी वहाँ जावे तो तो उसको दोष लगता है। [२५]

यदि कोई गृहस्थ (अपने घर श्रमण ब्राह्मण आदि को भिक्षा के लिये खड़ा देख कर) आहार मुनि को दे और कहे कि, 'यह आहार मैंने तुम सबको जो यहाँ खड़े हो, दिया है। तुम सब मिल कर इसे आपस में बांट लो। इस पर वह मुनि यदि मन में सोचे कि, 'यह सब आहार तो मुझ अकेले के लिये ही

है तो उसको दोष लगता है। इस लिये ऐसा न करके, उस आहार को दूसरे श्रमणब्राह्मणों के पास ले जाकर वह कहे कि, 'यह आहार सबके लिये दिया गया है, इस लिये सब मिलकर बांट लो।' तब उनमें से कोई ऐसा कहे कि, 'हे आयुष्मान्! तू ही सबको बांट दे।' इस पर वह आहार बांटते समय अपने हिस्से में अच्छा या अधिक आहार न रखे, पर लोलुपता को त्याग कर शांति से सब को बांट दे। परन्तु बांटते समय कोई ऐसा कहे कि, 'हे आयुष्मान्! तू मत बांट; हम सब मिलकर खावेंगे'। तब वह उसके साथ आहार खाते समय अधिक या अच्छा न खाकर शांति से समान आहार खावे। [२६]

मुनि आहार लाने के बाद, यदि उसमें से अच्छा अच्छा खाकर बाकी का डाल दे तो उसको दोष लगता है। इस लिये ऐसा न करके अच्छा-बुरा सब खा जावे, बुरा छोड़े नहीं। ऐसा ही पानी के सम्बन्ध में समझे। मुनि आवश्यकतासे अधिक भोजन यदि ले आवे और पास में दूसरे समानधर्मा मुनि रहते हों तो उनको वह अधिक आहार बताये बिना या उनकी आवश्यकता के बिना दे डाले तो उसको दोष लगता है वे भी उस देनेवाले को कह दें कि कि, 'हे आयुष्मान्! जितना आहार हमें लगेगा उतना लेंगे; सारा लगेगा तो सारा लेंगे।' [५२-५४]

यदि आहार दूसरों को देने के लिये बाहर निकाल रखा हो तो उसकी आज्ञा के बिना न ले। पर यदि उसने आज्ञा दे दी हो तो ले ले। [५५]

सब मुनियों के लिये इकट्ठा आहार ले आने के बाद वह मुनि उन सबसे पूछे बिना, अपनी इच्छा के अनुसार ही अपने परिचितों

को जल्दी न दे दे, परन्तु उस आहार को सब के पास ले जा कर कहे कि, 'मेरे पूर्व परिचित (दीक्षा देने वाले) और पश्चात् परिचित (ज्ञान आदि सिखाने वाले) आचार्य आदि को क्या मैं यह आहार दे दूँ ?' इस पर वे मुनि उसको कहे कि 'हे आयुष्मान् ! तू जितना चाहिये उतना उनको दे।' [५६]

कोई मुनि अच्छा अच्छा भोजन मांग ला कर मन में सोचे कि यदि इसे खोल कर बताऊंगा तो आचार्य ले लेंगे और यदि वह उस भोजन को बुरे भोजन से ढंक कर आचार्य आदि को बतावे तो उसे दोष लगता है। इस लिये, ऐसा न करके, बिना कुछ छिपाये उसको खुला ही बतावे। यदि कोई मुनि अच्छा अच्छा आहार खा कर बाकी का आचार्य आदि को बतावे तो भी दोष लगता है; इस लिये ऐसा न करे। [५७]

कोई मुनि अच्छा भोजन लेकर मुनि के पास आकर कहे कि, 'तुम्हारा अमुक मुनि बीमार है, तो उसको यह भोजन खिलाओ, यदि वह न खावे तो तुम खा जाना।' अब वह मुनि उस अच्छे भोजन को खा जाने के विचार से उस बीमार मुनि से यदि कहे कि, यह भोजन रूखा, है, चरपरा है, कड़वा है या कषैला है; तो उसे दोष लगता है। यदि उन मुनियों ने आहार देते समय यह कहा हो कि, 'यदि वह बीमार मुनि इसको न खावे तो इसके फिर हमारे पास लाना;' तो खुद ही उसे खाकर झूठ बोलने के बदले जैसा कहा हो वैसाही करे। [६०-६१]

भिक्षा मांगने जाते समय मार्ग, सराय, बंगले, गृहस्थ के घर या भिक्षुओं के मठों से भोजन की सुगंध आने पर मुनि उसको, 'क्या ही अच्छी सुगंध,' ऐसा कह कर न सूंघे। [४४]

कैसा पानी ले-कैसा न ले ?

भिक्षु, आटा (वर्तन, हाथ आदि) धोया हुआ, तिल्ली धोया हुआ चावल धोया हुआ या ऐसा ही पानी, ताजा धोया हुआ, जिसका स्वाद न फिरा हो, परिणाम में अन्तर न पडा हो, निर्जीव न हुआ हो तो सदोप जानकर न ले परन्तु जिसको धोए बहुत देर होने से उसका स्वाद बदलने से बिलकुल निर्जीव हो गया हो तो उस पानी को निर्जीव समझकर ले।

भिक्षु तिल्ली, चावल और जौ का (धोया हुआ) पानी, मांड (ओसामन), छाछ का नितार, गरम या ऐसा ही निर्जीव पानी देख कर उसके मालिक से मांगे, यदि वह खुद लेने का कहे तो खुद ही ले ले अथवा वही देता हो तो ले ले। निर्जीव पानी जीवजन्तु वाली जमीन पर रक्खा हो, अथवा गृहस्थ उसको सजीव पानी या मिट्टी के वर्तन से देने लगे या थोड़ा ठंडा पानी मिला कर देने लगे तो वह उसको सदोप समझ कर न ले। [४१-४२]

आम, केरी, बिजोरा, दाख, अनार, खजूर, नारियल, केला, बैर आंवला, इमली आदि का पना बीज आदि से युक्त हो अथवा उसको गृहस्थ छान-छून कर दे तो भिक्षु सदोप समझ कर न ले। [४३]

सात पिंडैषणाएँ और पानैषणाएँ

(आहार-पानी की मर्यादा विधि)

१. बिना भरे हुए (खाली, सूखे) हाथ और पात्र से दिया हुआ निर्जीव आहार स्वयं मांगकर या दूसरे के देने पर ग्रहण करे।

२. भरे हुए हाथ और पात्र से दिया हुआ निर्जीव आहार ही ले।

३. अच्छे हाथ और भरे हुए पात्र से अथवा भरे हुए हाथ और अच्छे पात्र से हाथ में या पात्र में दिया हुआ निर्जीव भोजन खुद ही मांगे या दूसरा दे तो ग्रहण करे।

४. निर्जीव पोहे, ढिरूं, धानी आदि जिसमें से फेंकने का कम और खाने का अधिक निकलता हो और दाता को भी वर्तन धोने आदि का पश्चात् कर्म थोडा करना पडता हो, उन्हीं को खुद मांगे या दूसरा देता हो तो ले।

५. जिस निर्जीव भोजन को गृहस्थ ने खुद खाने के लिये कटोरी, थाली और कोपक (बर्तन विशेष) में परोसा हो, (और उसके हाथ आदि भी सूख गये हों) उसको खुद मांग कर ले या दूसरा दे तो ले ले।

६. गृहस्थ ने अपने या दूसरों के लिये निर्जीव भोजन कडछी में निकाला हो, उसको हाथ या पात्र में मांगकर ले या दूसरे दे तो ले ले।

७. जो भोजन फेंकने के योग्य हो और जिसको कोई दूसरा मनुष्य या जानवर लेना न चाहे, उस निर्जीव भोजन को खुद मांग कर ले या दूसरा दे तो ले ले।

इन सातों पिंडैषणाओं को भिक्षु को जानना चाहिये और इन में किसी को स्वीकार करना चाहिये।

सात पानैषणाएँ भी इसी प्रकार की हैं, केवल चौथी इस प्रकार है—तिल्ली, चावल, जौ का पानी, मांड, छाछ का नितार या गरम या अन्य प्रकार का निर्जीव पानी, जिसको लेने पर (धोने-साफ़ करने का) पश्चात्कर्म थोडा करना पडे, उसको ही ले।

इन सात पिंडैपणा या पानैपणा में से किसी एक की प्रतिज्ञा लेने पर ऐसा न कहे कि मैं ने ही अच्छी प्रतिज्ञा ली है और दूसरों ने बुरी। परन्तु ऐसा समझे कि दूसरोंने जो प्रतिज्ञा ली है और मैं ने जो ली है, वे सब जिन की आज्ञा के अनुसार ही हैं और सब यथाशक्ति ही आचार पाल रहे हैं। [६३]

दूसरा अध्ययन

—(०)—

शय्या*

कैसे स्थान में रहे कैसे में न रहे ?

भिक्षु को ठहरने की जरूरत हो तो वह गांव, नगर या राजधानी में जावे । [६४]

वहाँ वह स्थान अंडे, जीवजन्तु और जाला आदिसे भरा हुआ हो तो उसमें न ठहरे; परन्तु यदि ऐसा न हो तो उसको अच्छी तरह देखभालकर, झाड़-बुहार कर सावधानी से आसन, शय्या करके ठहरे ।

जिस मकान को गृहस्थ ने एक या अनेक सहधर्मी भिक्षु या भिक्षुणी के लिये अथवा श्रमणब्राह्मण के लिये छःकाय जीवों की हिंसा करके तैयार किया हो, खरीदा हो, मांग लिया हो, छीन लिया हो (दूसरों का उसमें हिस्सा होने से) बिना आज्ञा के ले लिया हो या मुनि के पास जाकर कहा हो तो उसको सदोष जानकर भिक्षु उसमें न रहे ।

और, जो मकान किसी खास श्रमण ब्राह्मण के लिये नहीं पर चाहे जिसके लिये ऊपर लिखे अनुसार तैयार किया गया हो पर यदि पहिले दूसरे उसमें न रहें हो तो उसमें न रहे । परन्तु यदि

---

* शय्या (मूलमें, 'सेजा') का अर्थ बिछौना और मकान दोनों लिया गया है ।

उस मकान में दूसरे रह चुके हों तो उसको देख भाल कर, झाड़-बुहार कर उसमें रहे।

जिस मकान को गृहस्थ ने भिक्षु के लिये, चटाइयों या बांस की पिंचियों से ढकवाया हो, लिपाया हो धुलाया हो, घिसा कर साफ़ कराया हो, ठीक कराया हो धूप आदि से वासित कराया हो और यदि उसमें पहिले दूसरे न रहे हों तो वह उसमें न रहे पर यदि दूसरे उसमें रह चुके हों तो वह देख भाल कर, झाड़ बुहार कर उसमें रहे। [६४]

जिस मकान में गृहस्थ भिक्षु के लिये छोटे दरवाजों बड़े या बड़े दरवाजों को छोटे कराये हों उसके भीतर या बाहर पानी से पैदा हुए कंदमूल, फल-फूल, वनस्पति को एक स्थान से दूसरे पर ले गया हो या बिलकुल नष्ट कर दिया हो, और उसके पाट, नसैनी आदि इधर-उधर ले गया हो या निकाल लिया हो, तो भिक्षु उसमें जबतक कि दूसरे न रह चुके हों न रहे। [६५]

भिक्षु मकान के ऊपरी और ऊंचे भाग में बिना कोई खास कारण के न रहे। यदि रहना पडे तो वहाँ हाथमुँह आदि न धोवे और वहाँ से मलमूत्र आदि शौच क्रिया भी न करे क्योंकि ऐसा करने में गिर कर हाथपैर में लगना और जीवजन्तु की हिंसा होना संभव है। [६६]

भिक्षु स्त्री, बालक, पशु और उनके आहार-पानी की प्रवृत्ति वाले गृहस्थ के घर में न रहे। इसका कारण यह कि उसमें ये महादोष होना संभव हैं; जैसे, वहाँ भिक्षु को (अयोग्य आहारपानी से) सूजन, दस्त, उल्टी आदि रोग हो जावें तो फिर गृहस्थ उस पर दया करके संभव है उसके शरीर को तेल घी ...

आदि से मले या सुगन्धी वस्तु, काथा, लोध्र, वर्णक, चूर्ण या पद्मक आदि का लेप करे या ठंडे अथवा गरम पानी से स्नान करावे या लकडी से लकडी रगड़ कर आग सुलगा कर ताप दे । [६७]

और वहाँ गृहस्थ, उसकी स्त्री, पुत्र, पुत्रवधु, नौकर चाकर और दासदासी आपस में बोलचाल कर मारामारी करें तो उसका मन भी डगमग होने लगे । [७०]

और, गृहस्थ अपने लिये आग सुलगावे तो उसको देख कर उसका मन भी डगमग होने लगे । [७०]

और, गृहस्थ के घर उसके मणि, मोती और सोना चांदी के अलंकारों से विभूषित उसकी तरुण कन्या को देखकर उसका मन डगमग होने लगे । [६६]

और, गृहस्थ की स्त्रियाँ, पुत्रियाँ, पुत्रवधुएँ, दाइयाँ, दासियाँ या नोकरनियाँ ऐसा सुन रखा होने से कि 'ब्रह्मचारी श्रमण के साथ संभोग करने से बलवान, दीप्तिमान, रूपवान, यशस्वी, शूरवीर और दर्शनीय पुत्र होता है;" उसको लुभाने और डगमगाने का प्रयत्न करें।

। और, गृहस्थ स्नान आदि से स्वच्छ रहने वाले होते हैं और भिक्षु तो स्नान न करने वाला (कभी संभव है) मूत्र से शौच आदि क्रिया करने से दुर्गंधी युक्त हो जानेसे अप्रिय हो जावे; अथवा गृहस्थ को भिक्षु के ही कारण अपना कार्य बदलना या छोड़ना पड़े । [७२]

और, गृहस्थ ने अपने लिये भोजन तैयार कर लिया हो और फिर भिक्षु के लिये वह अनेक प्रकार का खानपान तैयार करने लगे तो उसके लिये भिक्षु को इच्छा हो । [७३]

और, गृहस्थ ने अपनी जरूरत के लिये लकड़ी फाड़ा रखी हो और भिक्षु के लिये अधिक लकड़ी फाड़ा कर या खरीद कर या मांग कर आग सुलगावे तो उसको देखकर भिक्षु को तापने की भी इच्छा हो। [७४]

और, गृहस्थ के घर रहने पर भिक्षु रात को मलमूत्र त्यागने के लिये गृहस्थ के घर का दरवाजा खोले, और उस समय कोई बैठा हुआ चोर भीतर घुस जाय उस समय साधु यह तो नहीं कह सकता कि, यह चोर घुसा; यह चोर छिपा; यह चोर आया; यह चोर गया, इसने चोरी की, दूसरों ने चोरी की; इसकी चोरी की, दूसरे की चोरी की; यह चोर है, यह उसका साथी है; इसने मारा या इसने ऐसा किया। इस पर वह गृहस्थ उस तपस्वी भिक्षु पर ही चोरी की शंका करे। इसलिये, पहिले से ही ऐसे मकान में न रहे, भिक्षु को यही उपदेश है। [७५]

जो मकान घास या भूसे की ढेरी के पास हो और इस कारण अनेक जीवजन्तु वाला हो तो उसमें भिक्षु न रहे पर यदि बिना जीवजन्तु का हो तो उसमें रहे। [७६]

मुनि, सराय में, बगीचों में बने हुए विश्राम घरों में, और मठों आदि में जहाँ बारबार साधु आते-जाते हों, न रहे। [७७]

जिन मकानों में जाने-आने या स्वाध्याय की कठिनता हो और जहां चित्त स्थिर न रह सकता हो तो भिक्षु वहां न रहे। जैसे, जो मकान गृहस्थ, आग और पानी वाला हो; जहां जाने का रास्ता गृहस्थ के घर के बीच में से होकर हो; जहां घर के लोग आपस में लड़ते-झगड़ते हों; या आपस में शरीर को तेल से मलते हों, या सुगंधित पदार्थ लगाते हों, आपस में स्नान करते-कराते हों, नग्न

बैठते हों, नग्नावस्था में संभोग सम्बन्धी बातें करते हों, दूसरी गुप्त बातें करते हों अथवा जिस घर में कामोद्दीपक चित्र हों—ऐसे मकान में मुनि न रहे। [६१-६८]

स्थान कैसे मांगे ?

मुनि को सराय आदि में जाकर अच्छी तरह तलाश करने के बाद स्थान को मांगना चाहिये। उसका जो गृहस्वामी या अधिष्ठाता हो, उससे इस प्रकार अनुमति लेना चाहिये, 'हे आयुष्मान्! तेरी इच्छा हो तो तेरी अनुमति और आज्ञा से हम यहाँ कुछ समय रहेंगे।' अथवा (अधिक समय रहना हो तो) जब तक रहना होगा या यह मकान जबतक तेरे अधीन होगा तबतक रहेंगे और उसके बाद चले जावेंगे, तथा (कितने रहेंगे, ऐसा पूछने पर ठीक संख्या न बता कर) जितने आवेंगे, उतने रहेंगे। [८९]

भिक्षु जिसके मकान में रहे, उसका नाम पहिले ही जान ले, जिससे वह निमन्त्रण दे या न दे तो भी उसका आहार-पानी (भिक्षा) न ले सके। [९०]

कुछ दोष

कोई भिक्षु सराय (सराय से उस स्थान का तात्पर्य है जहां बाहर के यात्री आकर ठहरा करते हैं, पहिले ये शहर में न होकर बाहर अलग ही होती थीं) आदि में (अन्य ऋतु में एक मास और वर्षाऋतु में चार मास) एक बार रह चुकने के बाद वहां रहने को फिर आता है तो यह कालातिक्रम दोष कहलाता है। [७९]

कितने ही श्रद्धालु गृहस्थ अपने लिये पड़साल, कमरे, प्याऊ का स्थान, कारखाने या अन्य स्थान बनाते समय उसे श्रमण ब्राह्मण

आदि के रहने के काम आ सकने के लिये बड़ा बना देते हैं। ऐसे मकानों में श्रमण ब्राह्मण आते जाते रहते हों और उनके बाद भिक्षु ऐसा देखकर वहां रहे तो यह अभिक्रांत क्रिया दोष है और यदि पहिले ही वह वहां जाकर रहे तो यह अनभिक्रांत क्रिया दोष है।

ऐसा सुना होने से कि भिक्षु अपने लिये बनाये हुए मकानों में नहीं ठहरते, कोई श्रद्धालु गृहस्थ ऐसा सोचे कि अपने लिये बनाया हुआ मकान भिक्षुओं के लिये कर दूँ और अपने लिये दूसरा बनाऊँगा। यह मालूम होने पर यदि कोई भिक्षु ऐसे मकान में ठहरता है तो यह वर्ज्य क्रिया दोष है। [८२]

इसी प्रकार कितने ही श्रद्धालु गृहस्थोंने किसी खास संख्या के श्रमणब्राह्मण, अतिथि, कृपण आदि के लिये मकान तैयार कराया हो तो भिक्षु का उसमें ठहरना महावर्ज्यदोष है। [८३]

इसी प्रकार श्रमणवर्ग के ही अनेक भिक्षुओं के लिये तैयार कराये हुए मकानों में ठहरना सावद्यक्रिया दोष है।

किसी गृहस्थ ने सहधर्मी एक श्रमण के लिये छः काय के जीवों की हिंसा करके ढांक लीप कर मकान तैयार कराया हो, उसमें ठंडा पानी भर रखा हो, और आग जला कर रखी हो तो ऐसे अपने लिये तैयार कराये हुए मकान में ठहरना महासावद्यक्रिया दोष है। ऐसा करने वाला न तो गृहस्थ है और न भिक्षु ही। [८४]

परन्तु जो मकान गृहस्थ ने अपने ही लिये छावलीप कर कर तैयार कराया हो, उसमें जाकर रहना अल्पसावद्यक्रिया दोष है। [८६]

कितने ही सरल, मोक्षपरायण तथा निष्कपट भिक्षु कहते हैं कि 'भिक्षु को निर्दोष पर अनुकुल स्थान मिलना सुलभ नहीं है। और कुछ

नहीं तो किसी भी मकान में उसका ढांकना, लीपना, दरवाजे-खिडकी और इसी प्रकार भिक्षान्न (भिक्षु के योग्य) शुद्ध नहीं ही होते। और भिक्षु समय-समय पर चंक्रमन (जाना-आना) करता है, स्थिर बैठता है, स्वाध्याय करता है, सोता है और भिक्षा मांगता है। इन सब कामों के लिये उसको अनुकुल स्थान मिलना कठिन है। ऐसा सुनकर कोई गृहस्थ भिक्षु के अनुकुल स्थान तैयार कर रखते हैं; उसमें कुछ समय खुद रहकर या दूसरेको उसका कुछ भाग बेचकर अपनी बुद्धि के अनुसार उसको भिक्षु के योग्य बना रखते हैं। इस पर प्रश्न उठता है कि भिक्षु का अपने ठहरने के योग्य या अयोग्य स्थान का वर्णन गृहस्थ के सामने करना उचित है या नहीं ? हां, उचित है। (ऐसा करते समय उसके मन में अन्य कोई इच्छा नहीं होना चाहिये।

बिछाने की वस्तुएँ कैसे मांगे ?

भिक्षु को, यदि बिछाने की वस्तुओं (पाट, पाटिया आदि) की जरूरत पड़े तो वह बारीक जीवजन्तु आदि से युक्त हो तो न ले परन्तु जो इनसे सर्वथा रहित हो, उसी को ले। उस को भी यदि दाता वापिस लेना न चाहता हो तो न ले .पर यदि उसे वापिस लेना स्वीकार हो तो ले ले। और, यदि वह बहुत शिथिल और टूटा हो तो न ले पर दृढ़ और मजबूत हो तो ले ले। [११]

इन सब दोषों को त्याग कर भिक्षु को बिछाने की वस्तुओं को मांगने के इन चार नियमों को जानना चाहिये और इनमें से एक को स्वीकार करना चाहिये।

१. भिक्षु घास, दूब या पराल आदि में से एक को, नाम बताकर गृहस्थ से मांगे। घास, तिनका, दूब, पराल बांस की

चिंचियाँ, पीपल आदि के पाट में से एक का निश्चय करके बिछाने के लिये खुद मांगे या दूसरा दे तो ले।

२ ऊपर बताये हुए में से एक का निश्चय करके, उसे गृहस्थ के घर देखकर बिछाने के लिये मांगे या दूसरा दे तो ले।

३. जिसके मकान में ठहरे, उसके यहां ऊपर की कोई बिछाने की वस्तु हो तो मांग ले या वह दे तो ले; नहीं तो ऊकडूँ या पालकी आदि मार कर बैठा रहे, सारी रात बितावे।

४. जिसके मकान में ठहरे, उसके यहां (मकान में) पत्थर या लकड़ी की पटरी तैयार पड़ी मिल जाय तो उसके पर सो जावे; नहीं तो ऊकडूं या पालकी आदि मार कर बैठा रहे, सारी रात बितावे। [१००-१०२]

इन चारों में से कोई एक नियम लेनेवाला ऐसा कभी न कहे कि, 'मैंने ही सच्चा नियम लिया है और दूसरों ने झूठा।' परन्तु ऐसा समझे कि दूसरे जिस नियम पर चलते हैं और मैं जिस नियम पर चलता हूँ, वह जिन की आज्ञा के अनुसार ही है, और प्रत्येक यथाशक्ति आचार को पाल रहा है। [१०३]

किस प्रकार बिछावे और सोवे?

स्थान मिलने पर भिक्षु उसको देख-भाल कर, झाड़-बुहार कर वहां सावधानी से आसन, बिछौना या बैठक करे। [६४]

बिछौने के लिये स्थान देखते समय आचार्य, उपाध्याय आदि तथा बालक, रोगी या अतिथि आदि के लिये स्थान छोड़कर, शेष स्थान में—बीच में या अन्त में, सम या विषम में, हवादार या बन्द स्थान में, सावधानी से बिछौना करे। [१०७]

सोने के पहिले, भिक्षु मलमूत्र त्यागने के स्थान को जान ले। नहीं तो रात में मलमूत्र करने जाते समय वह गिर पड़े, हाथ-पैर में लग जाय या जीवों की हिंसा हो। [१०६]

सोते समय भिक्षु सिर से पैर तक शरीर को पोंछ ले। [१०८]

उस स्थान पर बहुत से मनुष्य सो रहे हों तो इस प्रकार वह सोवे कि उसके हाथ-पैर आदि दूसरों को न लगे; तथा सोने के बाद (जोर से) सांस लेते समय, छींकते समय, बगासी लेते समय, डकारते समय या वायु छोड़ते समय मुँहा या गुदा हाथ से ढाँक कर सावधानी से उन क्रियाओं को करे। [१०६]

वहां पर बहुत से मनुष्य सो रहे हों और घर छोटा हो, ऊँचे नीचे दरवाजे वाला तथा भीड़ वाला हो तो उस मकान में रात में आते-जाते समय हाथ आगे करके फिर पैर रख कर सावधानी से आवे-जावे क्योंकि रास्ते में श्रमणों के पात्र, दंड, कमंडल, वस्त्र आदि इधर-उधर बिखरे पड़े हों और इस कारण असावधानी से आते-जाते समय भिक्षु वहाँ गिर पड़े, हाथ-पैर में लग जाय या जीवों की हिंसा हो। [८८]

बिछाने की वस्तुओं को कैसे लौटावे ?

बिछाने की वस्तुओं को भिक्षु जब गृहस्थ को वापिस दे तो ऐसी की ऐसी ही न दे दे पर उसके जीवजन्तु साफ़ करके सावधानी से दे। [१०५]

समता

भिक्षुको सोने के लिये कभी सम जगह तो कभी विषम; कभी हवादार तो कभी बन्द हवा; कभी डांस मच्छर वाली तो कभी बिना

डांस मच्छर की; कभी कचरेवाली तो कभी साफ़; कभी पड़ी-सड़ी तो कभी अच्छी; कभी भयावह तो कभी निर्भय जगह मिले तो भिक्षु समता से उसे स्वीकार करे पर खिन्न या प्रसन्न न हो। मुनि के आचार की यही सम्पूर्णता है कि सब विषयों में रागद्वेष से रहित और अपने कल्याण में वह तत्पर रहकर सावधानी से प्रवृत्ति करे। [११०]

तीसरा अध्ययन

—(०)—

विहार

चातुर्मास

भिक्षु या भिक्षुणी ऐसा जानकर कि अब वर्षा ऋतु लग गई है, पानी बरसने से जीवजन्तु पैदा हो रहे हैं, अंकुर फूट निकले हैं और रास्ते जीवजन्तु, वनस्पति आदि से भर गये हैं, इस कारण ठीक मार्ग नहीं दिखाई पड़ता तो वह गांव-गांव फिरना बन्द करके संयम से एक स्थान पर चातुर्मास (वर्षावास) करके रहे। [१११]

जिस गांव या शहर में बड़ी स्वाध्याय भूमि (वाचन-मनन के लिये एकान्त स्थान) न हो, मल-मूत्र के लिये जाने को योग्य स्थान न हो, सोने के लिये पाट, पीठ टेकने का पटिया, बिछौना, स्थान और निर्दोष आहार-पानी का सुभीता न हो और जहाँ अनेक श्रमण ब्राह्मण, भिखारी आदि आने से या आने वाले होने से बहुत भीड़ भाड़ होने के कारण जाना आना, स्वाध्याय, ध्यान आदि में कठिनाई पड़ती हो तो उसमें भिक्षु चातुर्मास न करे परन्तु जहां ऐसा न हो वहां सावधानी से चातुर्मास करे। [११२]

वर्षाऋतु के चार मास पूरे होने पर और हेमन्तऋतु के भी पांच-दस दिन बीत जाने पर भी, यदि रास्ते अधिक घास और जीवजंतु वाले हो, लोगों का आना जाना शुरु न हुआ हो तो भिक्षु गांव-गांव विहार न करे। पर रास्ते पर जीवजन्तु, घास कम हो गये

हों और लोगों का आना जाना भी शुरु हो गया हो तो वह सावधानी से विहार करना शुरु करदे । [११३]

किस प्रकार विहार करे ?

भिक्षु चलते समय अपने सामने चार हाथ जमीन पर दृष्टि रखे। रास्ते में जीवजन्तु देख कर, उनको बचाते हुए पैर रखे। जीवजन्तु से रहित रास्ता यदि लम्बा हो तो उसी से जावे, जीवजन्तु वाले छोटे रास्ते से नहीं। [११४]

भिक्षु दूसरे गांव जाते समय मार्ग में गृहस्थ आदि से जोर से बातें करता हुआ न चले। रास्ते में राहगिर मिले और पूछे कि 'यह गांव या शहर कैसा है, वहाँ कितने घोड़े, हाथी, भिखारी या मनुष्य हैं; वहाँ आहार-पानी, मनुष्य, धान्य आदि कम या अधिक हैं;' तो भिक्षु उसको कोई जवाब न दे। इसी प्रकार वह भी उससे ऐसा कुछ न पूछे। [१२३, १२६]

जाते समय साथ में आचार्य, उपाध्याय या अपने से अधिक गुण सम्पन्न साधु हों तो इस प्रकार चले कि उनके हाथपैर से अपने हाथपैर न टकरावें; और रास्ते में राहगिर मिलें और पूछें कि, 'तुम कौन हो? कहां जाते हो'—तो उसका जवाब खुद न देते हुए आचार्य आदि को देने दे और वे जवाब दे रहे हों तब बीच में न बोले। [१२८]

रास्ते में कोई राहगिर मिले और पूछे कि, 'क्या तुमने रास्ते में अमुक मनुष्य, प्राणी या पक्षी देखा है; अमुक कंद, मूल या वनस्पति; या अग्नि, पानी या धान्य देखा है? जो देखा हो, कहो;'—तो उसे कुछ न कहे या बतावे। उसके प्रश्न की उपेक्षा ही कर दे।

और जानते हुए भी, 'मैं जानता हूँ,' ऐसा तक न कहे। इसी प्रकार किसी पड़ाव डाले हुए लश्कर के सम्बन्ध में कोई पूछे, या आगे कौनसा गांव आवेगा, यह पूछे; या अमुक गांव जाने का रास्ता कितना लम्बा है, यह पूछे तो इन सब प्रश्नों के सम्बन्ध में ऐसा ही करे। [१२६]

कीचड़, धूल से भरे हुए पैरों को साफ़ करने के विचार से चलते समय पैरों को इधर-उधर करके घास तोडते हुए, दबाते हुए न चले! पहिले ही मालुम करके थोड़ी हरी वाले मार्ग पर ही सावधानी से चले। [१२५]

मार्ग में किला, खाई, कोट दरवाजा आदि उतरने के स्थान पड़ते हों, और दूसरा रास्ता हो तो इन छोटे रास्तों से भी न जावे। दूसरा रास्ता न होने के कारण उसीसे जाना पड़े तो झाड़, गुच्छ, गुल्म, लता, बेल, घास, झंकाड़ आदिको पकड कर जावे या कोई राहगिर जा रहा हो तो उसकी सहायता मांग ले। इस प्रकार सावधानी से उतर कर आगे चले। [१२५]

मार्ग में धान्य, गाडियाँ, रथ और देश या विदेश की सेना का पड़ाव देखकर दूसरा रास्ता हो तो इस छोटे रास्ते से भी न जावे। दूसरा रास्ता न होने से उसी से जाना पड़े और सेना का कोई आदमी आकर कहे कि, 'यह तो जासूस है, इसको पकड़ कर ले चलो;' तो वह भिक्षु उस समय व्याकुल हुए बिना, मन में आक्रोश लाये बिना अपने को एकाग्र रखकर समाहित करे। [१२५]

जिस मार्ग में सीमान्त के अनेक प्रकार के चोर, म्लेच्छ और अनार्य आदि के स्थान पड़ते हों या जहां के मनुष्यों को धर्म का भान कराना कठिन और अशक्य हो और जो मनुष्य अकाल में

खाना-पीना, सोना आदि व्यवहार करते हों तो उस मार्ग पर अच्छे स्थान और प्रदेश होने पर भी न जावे। इसी प्रकार जिस मार्ग पर राजा बिना के, गणसत्तात्मक, छोटी अवस्था के राजा के, दो राजा के, किसी प्रकार के राज्य बिना के, आपस में विरोधी स्थान पड़ते हों तो वह न जावे। इसका कारण यह कि संभव है वहां के मूर्ख लोग उसको चोर, जासूस या विरोधी पक्ष का समझ कर मारें, डरावें या उसके वस्त्र आदि छीनकर उनको फाड-तोड डालें। [११४-११६]

विहार करते हुए रास्ता इतना ऊबड़-खावड़ आजाय कि जो एक, दो, तीन, चार या पांच दिन में भी पार न हो सके तो उधर अच्छे स्थान होने पर भी न जावे क्योंकि बीच में पानी बरसने से जीवजन्तु, हरी आदि पैदा होने के कारण रास्ते की जमीन सजीव हो जाती है।

मार्ग चलते समय किला, खाई, कोट, गुफा, पर्वत पर के घर (कूटागार), तलघर, वृक्षगृह, पर्वतगृह, पूजितवृक्ष, स्तूप, सराय, या उद्यानगृह, आदि मकानों और भवनों को हाथ उठाकर या अंगुली बताकर देखे नहीं, पर सावधानी से सीधे मार्ग पर चले। इसी प्रकार जलाशय आदि के लिये समझे। इसका कारण यह कि ऐसा करने से वहां जो पशुपक्षी हों, वे, यह समझकर कि यह हमको मारेगा, डरकर व्यर्थ इधर-उधर दौड़ते हैं।

मार्ग में सिंह आदि हिंसक पशु को देखकर, उनसे डरकर मार्ग को न छोड़े; वन, गहन आदि दुर्गम स्थानों में न घुसे, पेड़ पर न चढ़ जावे; गहरे पानी में न कूद पड़े; किसी प्रकार के हथियार आदि के शरण की इच्छा न करे। किन्तु जरा भी घबराये बिना,

शांति से संयम पूर्वक चलता रहे। यदि मार्ग में लुटेरों का झुंड मिल जाय तो भी ऐसा ही करे। लुटेरे पास आकर कपड़े आदि मांगे या निकाल देने को कहें तो वैसा न करे। इस पर वे खुद छीन लें तो फिर उनको नमस्कार, प्रार्थना करके न मांगे, पर उपदेश देकर मांगे या मौन रहकर उस की उपेक्षा करदे। और, यदि चोरोंने उसे मारापीटा हो तो उसे गांव या राजदरबार में न कहता फिरे; किसी को जाकर ऐसा न कहे, कि, 'हे आयुष्मान्! इन चोरोंने मेरा ऐसा किया, वैसा किया।' ऐसा कोई विचार तक मन में न करे। परन्तु व्याकुल हुए बिना शान्त रहकर सावधानी से चलता रहे। [१२१]

पानी को कैसे पार करे?

एक गांव से दूसरे गांव जाते समय मार्ग में कमर तक पानी हो तो पहिले सिर से पैर तक शरीर को जीवजन्तु देखकर साफ करे; फिर एक पैर पानी में, एक पैर जमीन पर (एक पानी में तो दूसरा ऊपर ऊंचा रखकर दोनों को एक साथ पानी में नहीं रखकर) रखकर सावधानी से अपने हाथ पैर एक दूसरे से न टकरावे, इस प्रकार चले।

पानी में चलते समय शरीरको ठंडक देने या गरमी मिटाने के विचार से गहरे पानी में जाकर गोता न लगावे पर समान पानी में ही होकर चलता रहे। उस पार पहुँचने पर शरीर गीला हो तो किनारे ही खड़ा रहे गीले शरीर को सुखाने के लिये उसे न पोंछे, न रगड़े, न तपावे पर जब अपने आप पानी सूख जावे तो शरीर को पोंछकर आगे बढ़े। [१२४]

नाव में कैसे जावे ?

मार्ग में इतना पानी हो कि नाव द्वारा ही पार जाना हो सकता हो तो भिक्षु अपने लिये खरीदी हुई, मांग कर ली हुई, अदल बदल की हुई, जमीन पर से पानी में लाई हुई, पानी में से जमीन पर लाई हुई, भरी हुई, खाली कराई हुई, कीचड़ में से बाहर निकाली हुई नाव में कदापि न बैठे; परन्तु यदि नाव को गृहस्थों ने अपने लिये पार जाने को तैयार कराई हो तो उस नाव को वैसी ही जान कर भिक्षु उन गृहस्थों की अनुमति लेने के बाद एकान्त में चला जावे, और अपने वस्त्र, पात्र आदिको देखभाल कर तथा उनको एक ओर रखकर सिर से पैर तक शरीर को पोंछ कर साफ करे, फिर (उस पार पहुंचने तक) आहार-पानी का त्याग (प्रत्याख्यान) करके एक पैर पानी में एक ऊपर रखते हुए सावधानी से नाव पर चढ़े. (११८)

नाव पर चढ़कर आगे न बैठे, पीछे भी न बैठे और बीच में भी न बैठे। नाव की बाजु पकड़कर, अंगुली बताकर, ऊंचा-नीचा होकर कुछ न करे। यदि नाववाला आकर उससे कहे कि, 'हे आयुष्मान्! तू इस नाव को इधर खींच या धकेल, इस वस्तु को उस में डाल या रस्सा पकड़कर खींच, तो वह उस तरफ ध्यान न दे। यदि वह कहे कि, 'तुझ से इतना न हो सकता हो तो नाव में से रस्सा निकाल कर दे दे, जिससे हम खींच ले; तो भी वह ऐसा न करे। यदि वह कहे कि, 'तू डांड, वल्ली या बांस लेकर नाव को चला,' तो भी वह कुछ न करे। यदि वह कहे कि, 'तू नाव में भराने वाले पानी को हाथ, पैर, बर्तन या पात्र से उलीच डाल;' तो भी वह कुछ न करे। वह कहे कि, नाव के इस छेद को तेरे हाथ, पैर आदि से या वस्त्र, मिटी, कमलपत्र या कुरुविंद घास से बन्द कर रख;' तो भी

वह कुछ न करे। छेद में से पानी को आते देखकर या नाव को डगमगाते देखकर नाव वाले को जा कर ऐसा न कहे कि, 'यह पानी भरा रहा है' इसी प्रकार इस बात को मन में घोटता भी न रहे। परन्तु व्याकुल हुए विना तथा चित्त को अशान्त न करके, अपने को एकाग्र करके समाहित करे। वह नाववाला आकर उसे कहे कि, 'यह छत्र पकड़, यह शस्त्र पकड़; इस लड़के लड़की को दूध या पानी पिला;' तो वह ऐसा न करे। इस पर चिढ़ कर कोई ऐसा कहे कि, यह भिक्षु तो नाव पर बेकाम बोझा ही है इस लिये इसको पकड़ कर पानी में डाल दो।' यह सुनकर वह भिक्षु तुरन्त ही भारी कपड़े अलग करके हलके कपड़े शरीर और मुँह से लपेट ले; और यदि वे क्रूर मनुष्य उसका हाथ पकड़कर पानी में डालने आवें तो वह उनको कहे कि, 'आयुष्यमान गृहस्थ! हाथ पकड कर मुझे फैंकने की, जरूरत नहीं मैं तो खुद ही उतर जाता हूँ। इतने परभी वे उसको फैंक दें तो भी वह अपने चित्त को शान्त रखे, उनका सामना न करे परन्तु व्याकुल हुए विना सावधानी से उस पानी को तैरकर पार कर जावे। (१२०-१२१).

भिक्षु पानी में तैरते समय हाथ-पैर आदि न उछाले, गोते न खावे, क्योंकि, ऐसा करने से पानी नाक-कान में जाकर यों ही नष्ट होता है। भिक्षु पानी में तैरते थक जाय ते वह अपने सब या कुछ कपड़े अलग करदे, उनसे बंधा न रहे। किनारे पर पहुँचने पर शरीर को पूछे, रगड़े या तपावे नहीं; पर पानी के अपने आप सूखने पर उसको पोंछ कर आगे चले।

भिक्षु और भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है कि सब विषयों में सदा राग द्वेष रहित होकर अपने कल्याण में तत्पर रह कर सावधानी से प्रवृत्ति करे।

चौथा अध्ययन

—(०)—

भाषा

भाषा के निम्न प्रयोग अनाचार रूप है, इनका सत्पुरुषों ने आचरण नहीं किया। भिक्षु भी इन को समझ कर आचरण न करे। वे है- क्रोध, मान, माया, लोभ से बोलना, जान बुझ कर कठोर बोलना, अनजाने कठोर बोलना आदि। विवेकी इन सब दोषमय भाषा के प्रयोगों का त्याग करे।

भिक्षु (जाने बिना या निश्चय हुए बिना) निश्चय रूप से नहीं बोले; जैसे कि यही ठीक है या यह ठीक नहीं है; (अमुक साधु को) आहार पानी मिलेगा ही या नहीं ही मिलेगा; वह उसे खा ही लेगा या नहीं ही खावेगा; अमुक आया है ही, या नहीं ही आया है; आता ही है या नहीं ही आता है; आवेगा ही या नहीं ही आवेगा। भिक्षु जरूरत पड़ने पर विचार करके, विश्वास होने पर ही निश्चय रूप से कहे। [१२२]

एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, नपुंसकलिंग, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अन्य पुरुष, मध्यम-अन्य मिश्रित पुरुष, अन्य-मध्यम मिश्रित पुरुष, भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल, प्रत्यक्ष और परोक्ष; इन सोलह प्रकार में से किसी का उपयोग करते समय विचारपूर्वक, विश्वास होने पर ही, सावधानी से, संयमपूर्वक उपरोक्त दोष टाल कर ही बोले। [१२२]

भिक्षु भाषा के इन चार भेदों को जाने—सत्य, असत्य, कुछ सत्य कुछ असत्य, न सत्य और न असत्य। [१३२]

इन चारों प्रकार की भाषाओं में से जो कोई सदोष, कर्मबंध कराने वाली, कर्कश, कड़वी, निष्ठुर, कठोर, अनर्थकारी, जीवों का छेदन-भेदन और उनको आघात परिताप करने वाली हो, उसे जान कर न बोले। परन्तु जो भाषा सत्य, सूक्ष्म (ऊपर से असत्य जान पड़ती है, पर वास्तव में सत्य होती है) न सत्य या न असत्य और उपरोक्त दोषों से रहित हो, उसी को जानकर बोले। [१३३]

भिक्षु किसी को बुलाता हो और यदि वह न सुने तो उसको अवज्ञा से चांडाल, कुत्ता, चोर, दुराचारी, झूठा आदि सम्बोधन न करे, उसके माता पिता के लिये भी ये शब्द न कहे; परन्तु 'हे अमुक, हे आयुष्मान्, हे श्रावक, हे उपासक हे धार्मिक, हे धर्मप्रिय, ऐसे शब्द से सम्बोधन करे, स्त्री को सम्बोधन करते समय भी ऐसा ही करे। [१३४]

भिक्षु आकाश, गर्जना और बिजली को देव न कहे। इसी प्रकार देव बरसा, देव ने वर्षा बन्द की, आदि भी न कहे। और वर्षा हो या न हो, सूर्य उदय हो या न हो, राजा जीते या न जीते, भी न कहे। आकाश के लिये कुछ कहना हो तो नभोदेव या ऐसा ही कुछ कहने के बदले में 'अंतरिक्ष' कहे। देव बरसा ऐसा कहने के बदले यह कहे कि बादल इकट्ठे हुए, या बरसे। [१३५]

भिक्षु या भिक्षुणी हीन रूप देखकर उसको वैसा ही न कहे। जैसे, सूजे हुए पैर वाले को 'हाथीपग्गा' न कहे, कोढ़ वाले को 'कोढ़ी, न कहे, आदि। संक्षेप में, जिसके कहने पर सामने वाला मनुष्य नाराज हो, ऐसी भाषा जान कर न बोले।

भिक्षु उत्तम रूप देखकर उनको वैसा ही कहे। जैसे, तेजस्वी आदि। संक्षेप में, जिसके कहने पर सामने वाला मनुष्य नाराज न हो, ऐसी भाषा जान कर बोले।

भिक्षु कोट, किला, घर आदिको देखकर ऐसा न कहे कि यह सुन्दर बनाया है या कल्याणकारी है। परन्तु जरूरत पड़ने पर ऐसा कहे कि, यह हिंसापूर्वक बांधा गया है, दोषपूर्वक बांधा गया है, प्रयत्नपूर्वक बांधा गया है। अथवा दर्शनीय को दर्शनीय और बेडोल को बेडोल कहे। [१३६]

इसी प्रकार तैयार किये हुए आहार-पानी के सम्बन्ध में समझे। [१३७]

भिक्षु किसी जवान और पुष्ट प्राणी-पशु-पक्षी को देखकर ऐसा न कहे कि, यह हृष्टपुष्ट, चरबी युक्त, गोलमटोल, काटने योग्य या पकाने योग्य है परन्तु जरूरत पड़ने पर ऐसा कहे कि इसका शरीर भरा हुआ है, इसका शरीर मजबूत है, यह मांस से भरा हुआ है अथवा यह पूर्ण अंग वाला है।

भिक्षु गाय, बैल आदि को देखकर ऐसा न कहे कि यह दोहने योग्य है, फिराने योग्य है, या गाडी में जोतने योग्य है पर ऐसा कहे कि यह गाय दूध देने वाली है, जवान है और बैल बडा या छोटा है।

भिक्षु बाग, पर्वत या वन में बड़े पेड़ आदि देखकर ऐसा न कहे कि, यह महल बनाने के काम के हैं, दरवाजे बनाने के काम के हैं या घर, अर्गला, हल, गाड़ी आदि बनाने के काम के हैं। पर ऐसा कहे कि, योग्य जाति के हैं, ऊंचे हैं, मोटे हैं, अनेक शाखा वाले हैं, बेडोल या दर्शनीय है।

इसी प्रकार वृक्षों में फल लगे देखकर ऐसा न कहे कि ये फल पके हैं, या पका कर खाने योग्य हैं या अभी खाने योग्य हैं, नरम हैं या टुकड़े करने योग्य हैं। परन्तु उन वृक्षों को देखकर ऐसा कहे कि, फल के भार से यह बहुत झुक गये हैं, उनमें बहुत से फल लगे हैं या फलों का रंग अच्छा है।

भिक्षु खेतों में धान्य खड़ा देखकर ऐसा न कहे कि वह पक गया है, या हरा है या सेकने योग्य है या धानी फोड़ने के योग्य है। पर ऐसा कहे कि, वह ऊगा हुआ है, बढ़ा हुआ है, सख्त हो गया है, रस भरा हैं, उसमें दाने लग गये हैं या लग रहे हैं। [१३८]

भिक्षु अनेक प्रकार के शब्द सुन कर ऐसा न कहे कि, यह अच्छा या बुरा है परन्तु उसका स्वरूप बताने के लिये सुशब्द को सुशब्द और दुःशब्द को दुःशब्द कहे। ऐसा ही रूप, गन्ध और रस के सम्बन्ध में भी करे। [१३९]

भिक्षु क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करके विचार-पूर्वक विश्वास करके ही बोले; जैसा सुने, वैसा ही कहे; तथा घबराये बिना, विवेक से, समभाव पूर्वक, सावधानी से बोले। [१४०]

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है कि वह सब विषयों में सदा रागद्वेपरहित और अपने कल्याण में तत्पर रह कर सावधानी से प्रवृत्ति करे।

पांचवां अध्ययन

—(०)—

वस्त्र

भिक्षु या भिक्षुणी को वस्त्र की जरूरत पड़ने पर वह ऊन, रेशम सन, ताडपत्र आदि, कपास या रेशे के बने वस्त्र मांगे। जो भिक्षु बलवान, निरोगी और मजबूत हो, वह एक ही वस्त्र पहिने; भिक्षुणी (साध्वी) चार वस्त्र पहिने, एक दो हाथ का, दो तीन हाथ के और एक चार हाथ का। इतनी लम्बाई वाले न मिले तो जोडकर बना ले। [१४१]

भिक्षु या भिक्षुणी वस्त्र मांगने के लिये दो कोस से दूर जाने की इच्छा न करे। [१४२]

जिस वस्त्र को गृहस्थ ने एक या अनेक सहधर्मी भिक्षु या भिक्षुणी के लिये या खास संख्या के श्रमणब्राह्मण आदि के लिये हिंसा करके तैयार किया हो, खरीदा हो (खण्ड २ रे के अ० १ के सूत्र ६–८, पृष्ट ७६ में पिंडैषणा के विशेषण के अनुसार) उस वस्त्र को सदोष जानकर न ले।

और जिस वस्त्र को खास संख्या के श्रमणब्राह्मण के लिये नहीं पर चाहे जिस के लिये ऊपर लिखे अनुसार तैयार कराया हो और उसको पहिले किसी ने अपना समझ कर काम में न लिया हो तो भिक्षु उसको सदोष जानकर न ले; पर यदि उसको दूसरों ने अपना समझ कर पहिले काम में लिया हो उसको निर्दोष समझ कर ले। [१४३]

इसी प्रकार जो वस्त्र गृहस्थने भिक्षु के लिये खरीदा हो, धोया हो, रंगा हो, सुगंधी पदार्थ और उकाले में मसलकर साफ़ किया हो, धूप से सुवासित किया हो तो उसको जब तक दूसरों ने अपना समझ कर काम में न लिया हो तब तक वह न ले। परन्तु दूसरों ने अपना समझ कर उसको काम में लिया हो तो वह ले ले। [१४४]

भिक्षु बहुत मूल्य के या दर्शनीय वस्त्र मिले तो भी न ले। [१४५]

उपरोक्त दोष टाल कर, भिक्षु नीचे के चार नियमों में से किसी एक नियम के अनुसार वस्त्र मांगे—

१ ऊनी, सूती आदि में से किसी एक तरह का निश्चित करके उसी को खुद मांगे या कोई दे तो ले ले।

२ अपनी जरूरत का वस्त्र गृहस्थ के यहां देखकर मांगे या दे तो ले ले।

३ गृहस्थ जिस वस्त्र को भीतर या ऊपर पहिनकर काम में ले चुका हो, उसी को मांगे या दे तो ले ले।

४ फैंक देने योग्य, जिसको कोई भिखारी या याचक लेना न चाहे ऐसा ही वस्त्र मांगे या दे तो ले ले।

इन चारों में से एक नियम के अनुसार चलने वाला ऐसा कभी न समझे कि मैंने ही सच्चा नियम लिया है और दूसरे सब ने झूठा (आगे खण्ड २ रे के अ. १ ले के सूत्र ६३, पृष्ठ ८३ के अनुसार)।

इन नियमों के अनुसार वस्त्र मांगते समय भिक्षु को गृहस्थ यदि ऐसा कहे कि, 'तुम महिने के बाद या दस, पांच दिन बाद या कल या परसों आओ, मैं तुमको वस्त्र दूँगा;' तो भिक्षु उसे कहे कि, 'हे आयुष्मान्! मुझे यह स्वीकार नहीं है। इस लिये तुम्हें

देना हो तो अभी दे दो।' इस पर वह कहे कि, 'थोडी देर बाद ही तुम आओ;' तो भी वह इसे स्वीकार न करे। यह सुनकर वह गृहस्थ घर में किसी से कहे कि, 'हे भाई या बहिन, अमुक वस्त्र लाओ, उस वस्त्र को हम भिक्षु को दें; और अपने लिये दूसरा लावेंगे।' तो ऐसा वस्त्र सदोष जानकर भिक्षु न ले।

अथवा वह गृहस्थ अपने घर के मनुष्य से ऐसा कहे कि, 'अमुक वस्त्र लाओ, हम उसको सुगन्धी पदार्थ या उकाले से घिस कर साफ़ करके या सुगन्धित करके भिक्षु को दें, या ठंडे अथवा गरम पानी से धोकर दें, या उसमें के कंद, शाक भाजी आदि निकाल कर दें; तो भिक्षु तुरन्त ही उसे कह दे कि, 'हे आयुष्मान्, तुम्हें देना ही हो तो ऐसा किये विना ही दो।' इतने पर भी गृहस्थ उसे वैसा करके ही देने लगे तो वह उसे सदोष जानकर न ले।

गृहस्थ भिक्षु को कोई वस्त्र देने लगे तो भिक्षु उसे कहे कि 'हे आयुष्मान्, मैं एक बार तुम्हारे वस्त्र को चारों तरफ से देख लूँ;' बिना देखे भाले वस्त्र को लेने में अनेक दोष हैं। कारण यह कि इस वस्त्र में, सम्भव है, कोई कुंडल, हार आदि आभूषण या बीज, धान्य आदि कोई सचित्त वस्तु बंधी हो। इस लिये पहिले ही से देख कर वस्त्र ले। [१४६]

जो वस्त्र जीवजन्तु से युक्त जान पड़े, भिक्षु उसे न ले। यदि वस्त्र जीवजन्तु से रहित हो पर पूरा न हो, जीर्ण हो, थोड़े समय के लिये दिया हो, पहिनने योग्य न हो और किसी तरह चाहने योग्य न हो तो भी उसको न ले। परन्तु जो वस्त्र जीवजन्तु से रहित, पूरा, मजबूत, हमेशा के लिये दे दिया हुआ, पहिनने योग्य हो, उसे निर्दोष जानकर ले ले।

भिक्षु, ऐसा समझकर कि वस्त्र नया नहीं है, दुर्गन्ध से भरा हुआ है; उसको सुगन्धी पदार्थ, उकाले या ठंडे या गरम पानी से धोवे या साफ़ न करे। [१४७]

भिक्षु को वस्त्र को धूप में सुखाने की जरूरत पडे तो वह उनको गीली या जीवजन्तु वाली जमीन पर न डाले। इसी प्रकार उनको जमीन से ऊपर की वस्तुओं पर जो इधर-उधर हिलती हों, पर भी न डाले और कोट, भीत, शिला, ढेले, खम्भे, खाट, मंजिल या छत आदि जमीन से ऊपर भी या हिलने वाली जगह पर भी न डाले। परन्तु वस्त्र को एकान्त में ले जाकर वहाँ जली हुई जमीन आदि बिना जीवजन्तु के स्थान पर देख भालकर साफ करके डाले। [१४८]

भिक्षु, ऐसे ही वस्त्र मांगे जिनको वह स्वीकार कर सकता हो और जैसे मिले वैसे ही पहिने। उनको धोवे या रंगे नहीं; और धोये हुये या रंगे हुए वस्त्र न पहिने; दूसरे गांव जाते हुए उनको कोई छीन लेगा, इस डर से न छिपावे, और ऐसे ही वस्त्र धारण करे जिनको छीनने का मन किसीका न हो। यह वस्त्र धारी भिक्षु का सम्पूर्ण आचार है।

गृहस्थ के घर जाते समय अपने वस्त्र साथ में लेकर ही जावे-आवे। ऐसा ही शौच या स्वाध्याय करने जाते समय करे। परन्तु वर्षा आदि के समय वस्त्र साथ में लेकर न जावे-आवे। [१४९]

कोई भिक्षु दूसरे गांव जाते समय, कुछ समय के लिये किसी भिक्षु से मांग कर वस्त्र ले आवे और फिर वापिस आने पर उस वस्त्र को उसके मालिक को देने लगे तो वह उसको वापिस न ले या लेकर दूसरे को न दे दे, या किसी का मांग कर न दे

या उसका बदला न करे या दूसरे को जा कर ऐसा न कहे कि, 'हे आयुष्मान्, क्या तुझे यह वस्त्र चाहिये?' और, यदि वह मजबूत हो तो उसे फाड़ न फैंके परन्तु काम में लिये हुए उस वस्त्र को मांगकर ले जाने वाले को ही दे दे-खुद काम में न ले। भिक्षुओं का ऐसा आचार सुन कर कोई भिक्षु ऐसा विचार करे कि, मैं थोड़े समय के लिये वस्त्र मांग लूं और फिर दूसरे गांव से लौटने पर उसे वापिस दूंगा तो वह नहीं लेगा तो वह मेरा ही हो जायगा- इससें उसको दोष लगता है। इसलिये वह ऐसा न करे। [१५०]

भिक्षु वर्णयुक्त वस्त्रको विवर्ण न करे और विवर्ण को वर्णयुक्त न करे; दूसरा प्राप्त करने की इच्छा से अपना वस्त्र दूसरों को न दे दे, फिर लौटाने के लिये दूसरे से वस्त्र न ले; उसका बदला न करे, अपना वस्त्र देने की इच्छा से दूसरों से ऐसा न कहे कि, 'तुमको यह वस्त्र चाहिये?' दूसरों को अच्छा न लगता हो तो मजबूत कपड़े फाड़ न फैंके। मार्ग में कोई लुटेरा मिल जाय तो उससे अपने वस्त्र बचाने के लिये भिक्षु उन्मार्ग पर न चला जावे, अमुक मार्ग पर लुटेरे बसते हैं ऐसा जानकर दूसरे मार्ग न चला जावे, सामने आकर वे मांगे तो उन्हें दे न डाले; परन्तु-२ रे खण्ड के ३ रे अध्य. के सूत्र १२१, पृष्ट ६८ के अनुसार करे। [१५१]

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है।......'भाषा' अध्ययन के अन्त-पृष्ट १०४ के अनुसार।

छठा अध्ययन

—(०)—

पात्र

भिक्षु या भिक्षुणी को पात्र की जरूरत पड़े तो वह तूंबी, लकड़ी, मिट्टी, या इसी प्रकार का कोई पात्र मांगे। यदि कोई भिक्षु बलवान, निरोगी और मजबूत हो तो एक ही पात्र रखे, दो नहीं।

पात्र मांगने के लिये वह दो कोस से दूर जाने की इच्छा न करे।

जिस पात्र को गृहस्थने एक या अनेक सहधर्मी भिक्षु या भिक्षुणी के लिये जीवों की हिंसा करके तैयार किया हो.....(वस्त्र अध्ययन के सूत्र १४३, पृष्ट १०५ के अनुसार) तो उसे सदोष समझ कर न ले।

भिक्षु, बहुमूल्य और दर्शनीय पात्र मिलने पर भी न ले।

उपरोक्त दोष टालकर, भिक्षु नीचे के चार नियमों में से एक नियम के अनुसार पात्र मांगे—

१. तूंबी, लकड़ी, मिट्टी आदि के पात्र में से एक तरह का निश्चय करके, उसी का पात्र मांगे या कोई दे तो ले ले।

२. अपनी जरूरत का पात्र गृहस्थ के यहां देख कर मांगे या कोई दे तो ले ले।

३. गृहस्थ ने काम में ले लिये हों या काम में ले रहा हो ऐसे दो-तीन पात्र में से एक को मांगे या कोई दे तो ले ले।

४. फेंक देने योग्य जिसको कोई भिखारी याचक लेना न चाहे ऐसा ही पात्र मागे या कोई दे तो ले ले।

इनमें से कोई एक नियम लेने वाला दूसरे की अवहेलना न करे (भिक्षा अध्ययन के सूत्र ६३, पृष्ट ८२ के अनुसार)।

इन नियमों के अनुसार पात्र मांगने जाने वाले भिक्षु को गृहस्थ देने का वचन-म्यान दे अथवा पात्र तेल, घी आदि लगाकर या सुगन्धित पदार्थ, ठंडे या गरम पानी से साफ करके दे तो (वस्त्र अध्ययन के सूत्र १४६, पृष्ट १०६ के अनुसार) उसको सदोष जान कर न ले।

यदि गृहस्थ भिक्षुको कहे कि, 'तुम थोड़ी देर ठहरो, हम भोजन तैयार करके पात्र में आहार भर कर तुमको देंगे; भिक्षु को खाली पात्र देना योग्य नहीं है।' इस पर भिक्षु पहिले ही मना कर दे और इतने पर भी गृहस्थ वैसा करके ही देने लगे तो वह न ले।

गृहस्थ से पात्र लेने के पहिले भिक्षु उसे देख भाल ले; सम्भव है, उसमें जीव जन्तु, वनस्पति आदि हो।

(आगे, वस्त्र अध्ययन के सूत्र १४७-१४८, पृष्ट १०७-१०८ के अनुसार सिर्फ सुखाने की जगह 'पात्र यदि तेल, घी आदि से भरा हो तो निर्जीव जमीन देख कर वहां उसे सावधानी से साफ कर ले,' ऐसा समझें।) [१५२]

गृहस्थ के घर भिक्षा लेने जाते समय पात्र को पहिले देख भाल कर साफ कर ले जिससे उसमें जीवजन्तु या धूल न रहे। [१५३]

गृहस्थ भिक्षु को ठंडा पानी लाकर देने लगे तो वह उसे सदोष जान कर न ले पर यदि अचानक अनजान में आ जाय तो उसको फिर (गृहस्थ के वर्तन के) पानी में डाल दे; (यदि न डालने दे तो कुए आदि के पानी में डाल दे) या गीली जमीन पर डाल दे। ऐसा न हो सके तो पानी सहित उस पात्र को ही छोड़ दे।

भिक्षु अपने गीले पात्र को पोंछे या तपावे नहीं।

भिक्षु गृहस्थ के घर भिक्षा लेने जाते समय पात्र साथ में ले जावे......आदि वस्त्र अध्ययन के सूत्र १४०-१४१, पृष्ठ १०८-१०९ के अनुसार।

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है......आदि भाषा अध्ययन के अन्त-पृष्ठ १०४ के अनुसार।

सातवाँ अध्ययन

—(०)—

अवग्रह*

"प्रव्रज्या लेकर, मैं बिना घर-बार का, धन-धान्य पुत्र आदि से रहित, और दूसरों का दिया हुआ खाने वाला श्रमण होऊँगा और पापकर्म कभी नहीं करूँगा। हे भगवन्! दूसरों के दिये बिना किसी वस्तु को लेने का (रखनेका) प्रत्याख्यान (त्याग का नियम) करता हूँ।"

ऐसा नियम लेने के बाद भिक्षु, गांव नगर या राजधानी में जाने पर दूसरों के दिये बिना कोई वस्तु ग्रहण न करे; दूसरों से न करावे और कोई करता हो तो अनुमति न दे। अपने साथ प्रव्रज्या लेने वाले भिक्षुओं के पात्र, दंड आदि कोई भी वस्तु उनकी अनुमति लिये बिना और देखभाल किये बिना, साफ़ किये बिना, न ले। [१५५]

भिक्षु, सराय आदि स्थान देख कर, वह स्थान अपने योग्य है या नहीं यह सोच कर फिर उसके मालिक या व्यवस्थापक से वहां ठहरने की (शय्या अध्ययन के सूत्र ८६-६०, पृष्ठ ८८ के अनुसार) अनुमति ले।

---

* अवग्रह का अर्थ 'अपनी वस्तु—परिग्रह' और 'निवास-स्थान' दोनों होते हैं; इस अध्ययन में दोनों के सम्बन्ध के नियमों की चर्चा है।

स्थान मिलने के बाद, उस मकान में दूसरे श्रमण ब्राह्मण आदि पहिले से ठहरे हों, उनके पात्र आदि वस्तुएँ इधर-उधर न करे; वे ऊंघते हों तो न जगावे। संक्षेप में, उनको दुःखकारक या प्रतिकूल हो, ऐसा न करे। [१५१]

वहां अपने समान धर्मी या सहभोजी सदाचारी साधु आवें तो उनको अपना लाया हुआ आहारपानी; पाट-पाटला बिछाने की वस्तुएँ आदि देने के लिये कहें; पर दूसरों के लाये हुए आहार-पानी आदि के लिये बहुत आग्रह न करे। [१५६-१५७]

वहां गृहस्थ या उनके पुत्र आदि के पास से सूई, उस्तरा, कान-सली या नेरनी आदि वस्तुएँ वापिस लौटाने का वचन देकर अपने लिये ही मांग लाया हो तो उनको दूसरों को न दे; पर अपना काम पूरा होते ही उसे गृहस्थ के पास ले जावे, और अपने खुले हाथ में या जमीन पर रख कर, 'यह है, यह है,' ऐसा कहे; खुद उसके हाथ में न दे। [१५७]

किसी अमराई में ठहरा हो और आम खाने की इच्छा हो जाय तो जीवजन्तु वाले आम, और जिसको काटकर, टुकड़े करके निर्जीव न किया हो, न ले। जो आम जीवजन्तु से रहित, चीरकर टुकड़े कर निर्जीव किया हुआ हो, उसको ले।

गन्ने के खेत या लहसन के खेत में ठहरा हो तो भी ऐसा ही करे। [१६०]

भिक्षु उपरोक्त दोष टाल कर नीचे के सात नियमों में से एक नियम के अनुसार स्थान को प्राप्त करे।

१. सराय आदि स्थान देखकर वह स्थान अपने योग्य है या

नहीं, यह सोच कर, उसके मालिक से पहिले बताये अनुसार अनुमति लेकर उसे प्राप्त करे।

२. मैं दूसरे भिक्षुओं के लिये स्थान मांगूंगा और दूसरे भिक्षुओं के मांगे हुए स्थान में ठहरूँगा।

३. मैं दूसरे भिक्षुओं के लिये स्थान मांगूंगा परन्तु दूसरों के मांगे हुए स्थान में नहीं ठहरूँगा।

४. मैं दूसरों के लिये स्थान नहीं मांगूंगा परन्तु दूसरे के मांगे हुए स्थान में ठहरूँगा।

५. मैं अपने अकेले के लिये स्थान मांगूंगा; दूसरे दो, तीन, चार, पांच के लिये नहीं।

६. जिसके मकान में, मैं स्थान प्राप्त करूँगा, उससे ही घास आदि (शय्या अध्ययन के अनुसार) की शय्या मांग लूंगा, नहीं तो उकडूं या पालकी लगा कर बैठा-बैठा रात निकाल लूंगा।

७. जिसके मकान में ठहरूँगा, उसके वहाँ पत्थर या लकड़ी की पटरी, जैसी भी मिल जाय, उसी पर सो रहूँगा, नहीं तो ऊकडूं या पालकी लगा कर बैठा-बैठा रात निकाल दूँगा।

इन सातों में से एक नियम लेने वाला दूसरे की अवहेलना न करे......आदि भिक्षा अध्ययन के अन्त पृष्ठ ८३ के अनुसार। [१६१]

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता......आदि भाषा अध्ययन के अन्त-पृष्ठ १०९ के अनुसार। [१६२]

आठवाँ अध्ययन

—(०)—

खड़ा रहने का स्थान*

भिक्षु या भिक्षुणी को खड़ा रहने के लिये स्थान की जरूरत पड़े तो वह गांव, नगर या राजधानी में जावे। वह स्थान जीवजन्तु वाला हो तो उसको सदोष जानकर मिलने पर भी न ले......शय्या अध्ययन के सूत्र ६४ और ६५–पृष्ट–८५ ८४ के कन्दमूल के वाक्य तक के अनुसार।

भिक्षु इन सब दोषों को त्याग कर, नीचे के चार नियमों में से एक के अनुसार खड़ा रहने का निश्चय करे—

१. अचित्त स्थान पर खड़ा रहने, अचित्त वस्तु का अवलम्बन लेने, हाथ-पैर फ़ैलाने-सिकोड़ने और कुछ फिरने का नियम ले।

२. फिरने को छोड़ कर, बाकी सब ऊपर लिखे अनुसार ही नियम ले।

३. अवलंबन किसी का लेने को छोड़कर, बाकी सब ऊपर लिखे अनुसार ही नियम ले।

४. अचित्त स्थान पर खड़ा रहने, अवलम्बन किसी का न लेने, हाथ पैर न फैलाने-सिकोड़ने, न फिरने का और शरीर, बाल

---

* आठ से चौदह तक के अध्ययन दूसरी चूड़ा हैं।

दाढ़ी, रोम और नाखून का भाग त्याग कर (परिमित काल तक) बिना हिले-चले खड़ा रहने का नियम ले।

इन चारों में से एक नियम लेने वाला दूसरे की अवहेलना न करे......आदि भिक्षा अध्ययन के अन्त-पृष्ट ८२ के अनुसार।

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है......आदि भाषा अध्ययन के अन्त-पृष्ट १०४ के अनुसार। [१६]

नौवाँ अध्ययन

—(०)—

निशीथिका-स्वाध्याय का स्थान

भिक्षु या भिक्षुणी को स्वाध्याय करने के लिये स्थान की जरूरत पड़े तो गांव, नगर या राजधानी में जावे और जीवजन्तु से रहित स्थान को ही स्वीकार करे......आदि शय्या अध्ययन के सूत्र ६४ और ६५, पृष्ट ८४-८५ के कन्दमूल के वाक्य तक के अनुसार।

वहाँ दो, तीन, चार या पांच भिक्षु स्वाध्याय के लिये जावें तो वे सब आपस में एक-दूसरे के शरीर को आलिंगन न करें, चुम्बन न करें, या दांत-नख न लगावें।

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है—आदि भाषा अध्ययन के अन्त-पृष्ट १०४ के अनुसार। [१६४]

दसवाँ अध्ययन

—(०)—

मलमूत्र का स्थान

भिक्षु या भिक्षुणी को मलमूत्र की शंका हो और उसके पास सरावला न हो तो अपने सहधर्मी से मांग ले; उसमें मल-मूत्र करके निर्जीव स्थान पर डाल दे।

जो स्थान गृहस्थ ने एक या अनेक सहधर्मी भिक्षु या भिक्षुणी के लिये तैयार किया हो......(वस्त्र अध्ययन के सूत्र १४२ पृष्ठ १०५ के अनुसार) तो सदोष जान कर उसमें मल-मूत्र न करे।

जिस स्थान को गृहस्थ ने भिक्षु के लिये तैयार किया या कराया हो, बराबर कराया हो, सुवासित कराया हो, वहाँ वह मल-मूत्र न करे।

जिस स्थान में से गृहस्थ या उसके पुत्र आदि कंद, मूल, वनस्पति आदि को इधर-उधर हटाते हों, उसमें भिक्षु मलमूत्र न करे।

भिक्षु ऊंचे स्थानों पर मल-मूत्र न करे।

भिक्षु जीवजन्तु वाली, गीली, धूल वाली, कच्ची मिट्टी वाली जमीन पर मलमूत्र न करे और सजीव शिला, ढेले, कीड़े वाली लकड़ी पर या ऐसे ही सजीव स्थान में मलमूत्र न करे। [१६६]

जिस स्थान पर गृहस्थ आदि ने कंदमूल, वनस्पति आदि डाले हों, डालते हों या डालनेवाले हों, वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

जिस स्थान पर गृहस्थ आदिने मूंग, उड़द, तिल्ली, कुलथी, जौ आदि बोये हों, वहाँ भिक्षु मल-मूत्र का त्याग न करे।

जहाँ मनुष्यों के लिये भोजन बनता हो, या भैंस, पाड़े, घोड़े, कबूतर आदि पशुपक्षी रखे जाते हों वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

जिस स्थान पर मनुष्य किसी इच्छा से फाँसी लेते हों खुद को गीदड़ों से नुचवाते हों, पेड़ या पर्वत से गिरकर मरते हों, विष खाते हों, अग्निप्रवेश करते हों, वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

भिक्षु आराम, उद्यान, वन, उपवन, देवमंदिर, सभागृह या प्याऊ आदि स्थानों पर मलमूत्र का त्याग न करे।

भिक्षु किले के बुर्ज, किले या नगर के मार्ग, दरवाजे और गोपुर आदि स्थानों पर मलमूत्र का त्याग न करे।

जहाँ तीन या चार रास्ते मिलते हों, वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

निवाड़ा, चूने की भट्टी, श्मशान, स्तूप, देवमंदिर, नदी पर के तीर्थ नदी किनारे के स्थान, तालाब के पवित्र स्थान, पानी-नाली, मिट्टी की नई खान, नया गोचर, खान या शाक पत्र, फूल, फल आदि के स्थान में भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे। [१६६]

भिक्षु अपना या दूसरे का पात्र लेकर, खुले बाड़े में या स्थानक में एकान्त जगह पर, कोई देख न सके और जीवजन्तु से रहित स्थान पर जावे; वहां मलमूत्र करके, उस पात्र को लेकर खुले बाड़े में या जली हुई जमीन पर या ऐसी ही कोई निर्जीव जगह पर एकान्त में कोई देखे नहीं, वहां उसको सावधानी से डाल आवे। [१६२]

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है......आदि भाषा अध्ययन के अन्त-पृष्ट १०४ के अनुसार।

दसवाँ अध्ययन

—(०)—

मलमूत्र का स्थान

भिक्षु या भिक्षुणी को मलमूत्र की शंका हो और उसके पास सरावला न हो तो अपने सहधर्मी से मांग ले; उसमें मल-मूत्र करके निर्जीव स्थान पर डाल दे।

जो स्थान गृहस्थ ने एक या अनेक सहधर्मी भिक्षु या भिक्षुणी के लिये तैयार किया हो......(वस्त्र अध्ययन के सूत्र १४३ पृष्ठ १०५ के अनुसार) तो सदोष जान कर उसमें मल-मूत्र न करे।

जिस स्थान को गृहस्थ ने भिक्षु के लिये तैयार किया या कराया हो, बराबर कराया हो, सुवासित कराया हो, वहाँ वह मल-मूत्र न करे।

जिस स्थान में से गृहस्थ या उसके पुत्र आदि कंद, मूल, वनस्पति आदि को इधर-उधर हटाते हों, उसमें भिक्षु मलमूत्र न करे।

भिक्षु ऊंचे स्थानों पर मल-मूत्र न करे।

भिक्षु जीवजन्तु वाली, गीली, धूल वाली, कच्ची मिट्टी वाली जमीन पर मलमूत्र न करे और सजीव शिला, ढेले, कीड़े वाली लकड़ी पर या ऐसे ही सजीव स्थान में मलमूत्र न करे। [१६९]

जिस स्थान पर गृहस्थ आदि ने कंदमूल, वनस्पति आदि डाले हों, डालते हों या डालनेवाले हों, वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

जिस स्थान पर गृहस्थ आदिने मूंग, उड़द, तिल्ली, कुलथी, जौ आदि बोये हों, वहाँ भिक्षु मल-मूत्र का त्याग न करे।

जहाँ मनुष्यों के लिये भोजन बनता हो, या भैंस, पाड़े घोड़े, कबूतर आदि पशुपक्षी रखे जाते हों वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

जिस स्थान पर मनुष्य किसी इच्छा से फाँसी लेते हों खुद को गीदडों से नुचवाते हों, पेड़ या पर्वत से गिरकर मरते हों, विष खाते हों, अग्निप्रवेश करते हों, वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

भिक्षु आराम, उद्यान, वन, उपवन, देवमंदिर, सभागृह या प्याऊ आदि स्थानों पर मलमूत्र का त्याग न करे।

भिक्षु किले के बुर्ज, किले या नगर के मार्ग, दरवाजे और गोपुर आदि स्थानों पर मलमूत्र का त्याग न करे।

जहाँ तीन या चार रास्ते मिलते हों, वहाँ भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे।

निवाडा, चूने की भट्टी, श्मशान, स्तूप, देवमंदिर, नदी पर के तीर्थ नदी किनारे के स्थान, तालाब के पवित्र स्थान, पानी-नाली, मिट्टी की नई खान, नया गोचर, खान या शाक पत्र, फूल, फल आदि के स्थान में भिक्षु मलमूत्र का त्याग न करे। [१६६]

भिक्षु अपना या दूसरे का पात्र लेकर, खुले बाड़े में या स्थानक में एकान्त जगह पर, कोई देख न सके और जीवजन्तु से रहित स्थान पर जावे; वहां मलमूत्र करके, उस पात्र को लेकर खुले बाड़े में या जली हुई जमीन पर या ऐसी ही कोई निर्जीव जगह पर एकान्त में कोई देखे नहीं, वहां उसको सावधानी से डाल आवे। [१६२]

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है......आदि भाषा अध्ययन के अन्त-पृष्ट १०४ के अनुसार।

ग्यारहवाँ अध्ययन

—(०)—

शब्द

भिक्षु या भिक्षुणी चारों प्रकार (१. मढ़े हुए वाद्य-मृदंग आदि, २. तंतु वाद्य-तार आदि से खिंचे हुए वीणा आदि, ३. ताल वाद्य-झांझ आदि, ४ शुषिरवाद्य-फूंक से बजने वाले, शंख आदि) के वाद्यों के शब्द सुनने की इच्छा से कहीं न जावे। [१६८]

भिक्षु या भिक्षुणी अनेक स्थानों पर होने वाले विविध प्रकार के शब्द सुनने कहीं न जावे।

भिक्षु पाड़े, बैल, हाथी या कपिंजल पक्षी की लड़ाई के शब्द सुनकर वहाँ न जावे। वर कन्या के लग्नमंडप या कथा मंडप में भी न जावे इसी प्रकार हाथी घोड़े आदि की बाजीमें या जहाँ नाचगान की धूम मची हो, वहाँ भिक्षु न जावे। [१६९]

जहाँ खींचतान मची हो, लड़ाई झगड़े हो रहे हों या दो राज्यों के बीच झगड़ा हो, वहाँ न जावे।

लकड़ी को सजाकर, घोड़े पर बैठाकर उसके आसपास होकर लोग जा रहे हों या किसी पुरुष को मृत्युदंड देने को वधस्थान पर ले जा रहे हों तो वहाँ न जावे।

जहाँ अनेक गाड़ियां, रथ अथवा म्लेच्छ या सीमान्त लोगों के झुंड हों या मेले हों, वहाँ भी न जावे।

जहां अनेक बूढ़े, बच्चे या जवान स्त्री-पुरुष गाते, बजाते या नाचते हों, हंसी-खेल करते हों और खा-पी कर कोई उत्सव आदि मना रहे हों, वहां भी न जावे।

संक्षेप में इस लोक या परलोक के सुने हुए या न सुने हुए, देखे हुए या न देखे हुए शब्दों में आसक्त या मोहित न हो [१७०]

भिक्षु या भिक्षुणी के आचार की यही सम्पूर्णता है.....आदि भाषा अध्ययन के अन्त-पृष्ठ १०४ के अनुसार।

बारहवाँ अध्ययन

—(०)—

रूप

भिक्षु या भिक्षुणी विविध प्रकार के रूप, जैसे—गूंथकर बनाया हुआ, घड़ी करके बनाया हुआ, भर कर बनाया हुआ, जोड़ कर बनाया हुआ, लकड़ी खोदकर बनाया हुआ, लेप करके बनाया हुआ, चित्र कर बनाया हुआ; मणि आदि से, हाथीदांत से, मालाओं से या पत्ते आदि काटकर बनाया हुआ—देखने के लिये कहीं न जावे। [१७१]

(यहाँ से आगे पृष्ट १२० में शब्द अध्ययन के सब वाक्य, 'शब्द' के बदले 'रूप' लगाकर समझें)

तेरहवाँ अध्ययन

—(०)—

पर क्रिया

भिक्षु अपने सम्बन्ध में गृहस्थों द्वारा की हुई निम्न कर्मबन्ध करनेवाली क्रियाओं की इच्छा न करे और वे करते हों तो स्वीकार न करे। (उनका नियमन-प्रतिरोध न करे)

जैसे—कोई गृहस्थ भिक्षु के पैर पोंछे; दावे; उनके ऊपर हाथ फेरे; उनको रंगे; उनको तेल, घी अन्य पदार्थ से मसले या उन पर चुपड़े; पैरों को लोध्र, कल्क चूर्ण या रंग लगावे; उनको ठंडे या गरम पानी से धोवे; उन पर किसी वस्तु का लेप करे या धूप दे; पैर में से कील या कांटा निकाल डाले; उनमें से पीप, लोही आदि निकाल कर अच्छा करे; तो वह उसकी इच्छा न करे और न उसको स्वीकार करे।

इसी प्रकार शरीरके सम्बन्ध में और उसके घाव फोड़े, उपदंश भगंदर आदि के सम्बन्ध में भी समझे।

कोई गृहस्थ भिक्षु का पसीना, मैल या आंख कान और नाखून का मैल साफ करे: या कोई उसके बाल, रोम अथवा भौं, बगल या गुह्यप्रदेश के बाल लम्बे देखकर काट डाले, या छोटे करे, तो वह इच्छा न करे और न उसको स्वीकार करे।

कोई गृहस्थ भिक्षु के सिर से जूं, लीख वीने; उसको गोद ा पलंग में सुलावे, उसके पैर आदि दावे-मसले; हार, अर्धहार,

आदि छाती तथा गले के आभूपण और मुकुट, माला या सोने की कंठी आदि उसको पहनावे, तो वह उसकी इच्छा न करे और न उसको स्वीकार करे।

इसी प्रकार, भिक्षु को बगीचे या उद्यान में ले जाकर, उसके पैर आदि दाबे-मसले...आदि तो वह उसकी इच्छा न करे और न उसको स्वीकार करे। [१७२]

कोई गृहस्थ शुद्ध या अशुद्ध वचन (मंत्र) के बल से, अथवा कंदमूल, छाल या हरी खोद कर बीमार भिक्षु की चिकित्सा करने लगे तो वह उसकी इच्छा न करे और न उसको स्वीकार करे।

प्रत्येक मनुष्य अपने किये का फल भोगता है, ऐसा समझे। [१७३]

चौदहवाँ अध्ययन

—(०)—

अन्योन्य क्रिया

[पर क्रिया अध्ययन में जो क्रियाएँ गृहस्थ भिक्षु को करता था उन्हीं को भिक्षु अन्योन्य एक दूसरे को करे तो उनके सम्बन्ध में भी पर क्रिया अध्ययन के अनुसार उसकी इच्छा न करे और न उसको स्वीकार करे।] [१७४]

पन्द्रहवाँ अध्ययन

—(०)—

भावनाएँ*

(१)

(भगवान महावीर ने पांच महाव्रतों की भावनाओं का जो उपदेश दिया है, उसको कहने के लिये पहिले भगवान का जीवन-चरित्र यहां दिया है।)

भगवान् महावीर के जीवन-काल की पांच मुख्य घटनाओं में पांचों के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था—देवलोक से ब्राह्मणी माता के गर्भ में आये तब; ब्राह्मणी माता के गर्भ से क्षत्रियाणी माता के गर्भ में संक्रमण हुआ तब; जन्म के समय; प्रव्रज्या के समय और केवलज्ञान के समय। मात्र भगवान् का निर्वाण ही स्वाति नक्षत्र में हुआ। [१२९]

भगवान्, इस युग-अवसर्पिणी के पहिले तीन आरे (भाग) बीत जाने पर और चौथे के मात्र ७९ वर्ष और साढ़े नौ मास बाकी थे तब, ग्रीष्म के चौथे महिने में, आठवें पक्ष में, आषाढ़ शुक्ला ६ठ को, उत्तराफाल्गुणी नक्षत्र में, दसवें देवलोक के अपने पुष्पोत्तर विमान में अपना देव आयुष्य पूरा करके, जंबुद्वीप में, भरत क्षेत्र के दक्षिणार्ध में कुंडग्राम के ब्राह्मण विभाग में कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जलंधरायण गोत्र की देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी में सिंह के बच्चे के समान अवतीर्ण हुए।

---

* यह अध्ययन तीसरी चूड़ा है।

फिर (शक्रेन्द्र की आज्ञा से उसकी पैदल सेना के अधिपति हरिणगमेसि) देवने (तीर्थंकर, क्षत्रियाणी की कुक्षी से ही जन्म लेते हैं) ऐसा आचार है, यह मानकर, वर्षाऋतु के तीसरे मास में, पांचवें पक्ष में, आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को, ८२ दिन बीतने के बाद ८३ वें दिन कुंडग्राम के दक्षिण में ब्राह्मण, विभाग में सेभगवान् महावीर के गर्भ को लेकर, कुंडग्रामके उत्तर में क्षत्रिय–विभाग में, ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों में काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ की पत्नी वसिष्ठ गोत्रवाली त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षी में, अशुभ परमाणु निकाल कर, उनके स्थान पर शुभ परमाणु डाल कर रख दिया। और जो गर्भ त्रिशला क्षत्रियाणी को था, उसको देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी में रख दिया।

नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने के बाद, त्रिशला क्षत्रियाणी ने ग्रीष्म के पहिले महिने में, दूसरे पक्ष में, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को श्रमण भगवान् महावीर को कुशलपूर्वक जन्म दिया। उसी रात को देव–देवियों ने अमृत, गंध, चूर्ण, पुष्प और रत्नों की बड़ी वृष्टि की; और भगवान का अभिषेक, तिलक रक्षाबन्धन आदि किया।

जब से भगवान् त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षी में आये, तब से उनका कुल धन–धान्य, सोना–चांदी, रत्न आदि से बहुत वृद्धि को प्राप्त होने लगा। यह बात उनके माता–पिता के ध्यान में आते ही, उन्होंने दस दिन बीत जाने और अशुचि दूर हो जाने पर, बहुतसा भोजन तैयार कराके अपने सगे–सम्बन्धियों को निमन्त्रण दिया; उन को और याचकों को खिला–पिलाकर सबको भगवान् महावीर के गर्भ में आने के बाद से कुल की वृद्धि होने की बात कही; कुमार का नाम 'वर्धमान' रखा।

भगवान् महावीर के लिये पांच दाइयाँ रखी गई थी, दूध पिलाने वाली, स्नान कराने वाली, कपड़ेलत्ते पहिनाने वाली, खेलाने

वाली, और गोद में रखने वाली। इन पांचो दाइयों से घिरे हुए, एक गोद में से दूसरी की गोद में जाते रहने वाले भगवान्, पर्वत भी गुफा में रहे हुए चंपक वृक्ष के समान अपने पिताके रम्य महल में वृद्धि को प्राप्त होने लगे।

बाल्यावस्था पूरी होने पर, सर्वकलाकुशल भगवान् महावीर अनुत्सुकता से पांच प्रकार के उत्तम मानुषिक काम भोग भोगते हुए रहने लगे।

भगवान् के नाम तीन थे—माता–पिता का रखा हुआ नाम, 'वर्धमान'; अपने वैराग्य आदि सहज गुणों से प्राप्त, 'श्रमण' और अनेक उपसर्ग परिषह सहन करने के कारण देवों का रखा हुआ नाम, 'श्रमण भगवान् महावीर।'

भगवान् के पिता के भी तीन नाम थे; सिद्धार्थ, श्रेयांस, और जसंस (यशस्वी)? माता के भी त्रिशला, विदेहदिन्ना और प्रियकारिणी तीन नाम थे। भगवान के काका का नाम सुपार्श्व था। बड़े भाई का नाम नंदिवर्धन और बड़ी बहिन का नाम सुदर्शना था।

भगवान् की पत्नी यशोदा कौंडिल्य गोत्र की थी। उनकी पुत्री के दो नाम थे—अनवद्या और प्रियदर्शना। भगवान की दोहिती कौशिक गोत्र की थी, उसके भी दो नाम थे—शेषवती और यशोमती। [१७७]

भगवान के माता पिता पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों के अनुयायी (उपासक) थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक के आचार पालकर अन्त में छःकाय जीवों की रक्षा के लिये आहार पानी

का त्याग (अपश्चिम मारणांतिक संलेखना) करके देहत्याग किया। तब वे अच्युतकल्प नामक बारहवें स्वर्ग में देव हुए। वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में जाकर अन्तिम उच्छ्वास के समय सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त होंगे, और सब दुःखों का अन्त करेंगे। [१७८]

भगवान् महावीर ने तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रह कर अपने मात पिता का देहान्त होने पर अपनी प्रतिज्ञा (माता-पिता के देहान्त होने पर प्रव्रज्या लेने की) पूरी करने का समय जानकर अपना धन-धान्य, सोना-चांदी रत्न आदि याचकों को दान देकर, हेमन्त ऋतु के पहिले पक्ष में, मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को प्रव्रज्या लेनेका निश्चय किया

भगवान्, सूर्योदय के समय से दूसरे दिन तक एक करोड़ और आठ लाख सोनैया (मुहर) दान देते थे। इस प्रकार पूरे एक वर्ष तक भगवान् ने तीन अरब, अठासी करोड़ और अस्सी लाख सोने की मुहरें दान में दी। यह सब धन इन्द्र की आज्ञा से वैश्रमण (कुबेर देव) और उसके देव महावीर को पूरा करते थे।

पन्द्रह कर्मभूमि में ही उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर को जब दीक्षा लेने का समय निकट आता है, तब पांचवें कल्प ब्रह्मलोक में काली रेखा के विमानों में रहने वाले लोकांतिक देव उनको आकर कहते हैं —'हे भगवान्! सकल जीवों के हित कारक धर्मतीर्थ की आप स्थापना करें।' इसी के अनुसार २९ वें वर्ष उन देवों ने आकर भगवान् से ऐसी प्रार्थना की।

वार्षिक दान पूरा होने पर, तीसवें वर्ष में, भगवान् ने दीक्षा लेने की तैयारी की। उस समय, सब देव-देवी अपनी समस्त

समृद्धि के साथ अपने विमानों में बैठकर कुंडग्राम के उत्तर में क्षत्रियविभाग के ईशान्य में आ पहुँचे।

हेमन्त ऋतु के पहिले महिने में, प्रथम पक्ष में, मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को सुव्रत नामक दिन को, विजय मुहूर्त में, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में, छाया पूर्व की ओर पुरुषाकार लम्बी होने पर भगवान् को शुद्ध जल से स्नान कराया गया और उत्तम सफेद बारीक दो वस्त्र और आभूषण पहिनाये गये। बादमें उनके लिये चन्द्रप्रभा नामक बड़ी सुशोभित पालकी लाई गई; उसमें भगवान् निर्मल शुभ मनोभाव से विराजे। उस समय उन्होंने एक ही वस्त्र धारण किया था। फिर उनको धूमधाम से गाते बजाते गांव के बाहर ज्ञातृवंशी क्षत्रियों के उद्यान में ले गये।

उद्यान में आकर, भगवान् ने पूर्वाभिमुख बैठ कर सब आभूषण उतार डाले और पांच मुट्ठियों में, दाहिने हाथ से दाहिने ओर के और बांये हाथ से बायीं ओर के सब बाल उखाड़ डाले। फिर सिद्ध को नमस्कार करके, 'आगे से मैं कोई पाप नहीं करूँगा,' यह नियम लेकर सामायिक चारित्र का स्वीकार किया। यह सब देव और मनुष्य चित्रवत् स्तब्ध होकर देखते रहे।

भगवान् को क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र लेने के बाद मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हुआ। इससे वे मनुष्यलोक के पंचेन्द्रिय और संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानने लगे।

प्रव्रज्या लेने के बाद, भगवान् महावीर ने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धियों को विदा किया और खुद ने यह नियम लिया कि अब से बारह वर्ष तक मैं शरीर की रक्षा या ममता रखे बिना, जो कुछ परिषह और उपसर्ग आवेंगे, उन सबको

अडग होकर सहन करूंगा और उपसर्ग (विघ्न) देने वाले के प्रति समभाव रखूंगा। ऐसा नियम लेकर महावीर भगवान् एक मुहूर्त दिन बाकी था तब कुम्मार ग्राम में आ पहुंचे।

इसके बाद, भगवान् शरीर की ममता छोड़कर विहार (एक स्थान पर स्थिर न रहकर विचरते रहना), निवास स्थान, उपकरण (साधन सामग्री), तप संयम, ब्रह्मचर्य, क्षांति, त्याग, संतोष, समिति, गुप्ति आदि में सर्वोत्तम पराक्रम करते हुए और निर्वाण की भावना से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

वे उपकार–अपकार, सुख–दुःख, लोक–परलोक, जीवन–मृत्यु, मान–अपमान आदि में समभाव रखने, संसार समुद्र पार करने का निरन्तर प्रयत्न करने और कर्मरूपी शत्रु का समुच्छेद करने में तत्पर रहते थे।

इस प्रकार विचरते हुए भगवान् को देव, मनुष्य या पशु–पक्षी आदि ने जो उपसर्ग दिये, उन सबको उन्होंने अपने मनको निर्मल रखते हुए, बिना व्यथित हुए, अदीनभाव से सहन किये; और अपने मन, वचन और काया को पूरी तरह वश में रखा।

इस प्रकार बारह वर्ष बीतने पर, तेरहवें वर्ष में, ग्रीष्म के दूसरे महिने में, चौथे पक्ष में वैशाख शुक्ला दशमी को, सुव्रत दिन को, विजय मुहूर्त में, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में, छाया पूर्व की ओर पुरुषाकार लम्बी होने पर, ज्रांभक गांव के बाहर, ऋजुवालिका नदी के उत्तर किनारे पर, श्यामाक नामक गृहस्थ के खेत में, वेयावत्त नामक चैत्य के ईशान्य में, शालिवृक्ष के पास, भगवान् गोदोहासन से ऊकड़ूं बैठे ध्यान मग्न होकर धूप में तप रहे थे। उस समय उनको अट्ठमभक्त (छः बार अनशन का) निर्जल उपवास था और वे शुक्लध्यान में थे। उस समय उनको निर्वाणरूप,

सम्पूर्ण (सब वस्तुओं का) प्रतिपूर्ण (सब वस्तुओं के सम्पूर्ण भावों का), अव्याहत (कहीं न रुकनेवाला), निरावरण, अनन्त और सर्वोत्तम ऐसा केवल ज्ञानदर्शन उत्पन्न हुआ ।

अब भगवान् अर्हत् (त्रिभुवन की पूजा के योग्य) जिन (रागद्वेपादिको जीतने वाले), केवली, सर्वज्ञ और समभावदर्शी हुए ।

भगवान् को केवल ज्ञान हुआ, उस समय देव-देवियों के आने जाने से अंतरिक्ष में धूम मची थी। भगवान् ने पहिले अपने को और फिर लोक को देखभाल कर पहिले देवलोगोंको धर्म कह सुनाया और फिर मनुष्यों को। मनुष्यों में भगवान् ने गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों को भावनाओं के साथ पांच महाव्रत इस प्रकार कह सुनाये:-

पहिला महाव्रत—मैं समस्त जीवों की हिंसा का यावज्जीवन त्याग करता हूँ । स्थूल, सूक्ष्म, स्थावर या त्रस किसी भी जीवकी मन, वचन और काया से मैं हिंसा न करूँ, न दूसरों से कराऊँ, और करते हुए को अनुमति न दूँ। मैं इस पाप से निवृत्त होता हूँ, इसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और अपने को उससे मुक्त करता हूँ ।

इस महाव्रत की पांच भावनाएं ये हैं—

पहिली भावना-निर्ग्रन्थ किसी जीव को आघात न पहूँचे, इस प्रकार सावधानीसे (चार हाथ आगे दृष्टि रख कर) चले क्योंकि असावधानी से चलनेसे जीवों की हिंसा होना संभव है ।

दूसरी भावना-निर्ग्रन्थ अपने मन की जांच करे; उसको पापयुक्त, सदोष, सक्रिय, कर्मबन्धन करनेवाला और जीवों के वध, छेदन भेदन और कलह, द्वेष या परिताप युक्त न होने दे ।

तीसरी भावना-निर्ग्रन्थ अपनी भाषा की जांच करे; उसको (मन के समान ही) पापयुक्त, सदोष और कलह, द्वेष और परिताप युक्त न होने दे।

चौथी भावना-निर्ग्रन्थ वस्तुमात्र को बराबर देखभाल कर, साफ करके ले या रखे क्योंकि असावधानी से लेने-रखने में जीवों की हिंसा होना संभव है।

पांचवीं भावना-निर्ग्रन्थ अपने आहार-पानी को भी देखभाल कर काम में ले क्योंकि असावधानी से लेने में जीवजन्तु की हिंसा होना संभव है।

निर्ग्रन्थ के इतना करने पर ही, यह कह सकते हैं कि उसने महाव्रत को बराबर स्वीकार किया, पालन किया, कार्यान्वित किया या जिनों की आज्ञा के अनुसार किया।

दूसरा महाव्रत-मैं सब प्रकार के असत्यरूप वाणी के दोष का यावज्जीवन त्याग करता हूँ। क्रोध से, लोभ से, भय से या हंसी से, मैं मन, वचन और काया से असत्य नहीं बोलूं, दूसरों से न बुलाऊं और बोलते हुए को अनुमति न दूं। (मैं इस पाप से......आदि पहिले व्रत के अनुसार।)

इस महाव्रत की पांच भावनाएँ ये है—

पहिली भावना-निर्ग्रन्थ विचार कर बोले क्योंकि बिना विचारे बोलने से असत्य बोलना सम्भव है।

दूसरी भावना- निर्ग्रन्थ क्रोध का त्याग करे क्योंकि क्रोध में असत्य बोलना सम्भव है।

तीसरी भावना–निर्ग्रन्थ लोभ का त्याग करे क्योंकि लोभ के कारण असत्य बोलना सम्भव है।

चौथी भावना–निर्ग्रन्थ भय का त्याग करे क्योंकि भय के कारण असत्य बोलना सम्भव है।

पांचवीं भावना—निर्ग्रन्थ हंसी का त्याग करे क्योंकि हंसी के कारण असत्य बोलना सम्भव है।

इतना कर परने ही, कह सकते हैं कि उसने महाव्रत का बराबर पालन किया। (आदि पहिले व्रत के अनुसार)

तीसरा महाव्रत—मैं सब प्रकार की चोरी का यावज्जीवन त्याग करता हूँ। गांव, नगर या वन में से थोडा या अधिक, बड़ा या छोटा, सचित्त या अचित्त कुछ भी दूसरों के दिये विना न उठा लूँ, न दूसरों से उठवाऊँ न किसी को उठा लेने की अनुमति दूँ। (आदि पहिले के अनुसार।)

इस महाव्रत की पांच भावनाएँ ये हैं।

पहिली भावना–निर्ग्रन्थ विचार कर मित परिमाण में वस्तुएँ मांगे।

दूसरी भावना–निर्ग्रन्थ मांग लाया हुआ आहार-पानी आचार्य आदि को बता कर उनकी आज्ञा से ही खावे।

तीसरी भावना–निर्ग्रन्थ अपने निश्चित परिमाण में ही वस्तुएँ मांगे।

चौथी भावना–निर्ग्रन्थ बारबार वस्तुओं का परिमाण निश्चित कर के मांगे।

पांचवीं भावना–निर्ग्रन्थ सहधर्मियों के सम्बन्ध में (उनके लिये या उनके पास से) विचार कर और मित परिमाण में ही वस्तुएं मांगे।

इतना करने पर ही, कह सकते हैं कि उसने महाव्रत का पालन किया ।

चौथा महाव्रत–मैं सब प्रकार के मैथुन का यावज्जीवन त्याग करता हूँ। मैं देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुनको स्वयं सेवन न करूं दूसरों से सेवन न कराऊँ और करते हुए को अनुमति न दूँ। (आदि पहिले के अनुसार।)

इस महाव्रत की पांच भावनाएँ ये हैं—

पहिली भावना–निर्ग्रन्थ बारबार स्त्री–सम्बन्धी बातें न करे क्योंकि ऐसा करने से उसके चित्त की शांति भंग होकर, केवली के उपदेश दिये हुए धर्म से भ्रष्ट होना सम्भव है ।

दूसरी भावना–निर्ग्रन्थ स्त्रियों के मनोहर अंगों को न देखे और न विचारे ।

तीसरी भावना–निर्ग्रन्थ स्त्री के साथ पहिले की हुई कामक्रीड़ा को याद न करे ।

चौथी भावना–निर्ग्रन्थ परिमाण से अधिक और कामोद्दीपक आहार पानी सेवन न करे ।

पांचवीं भावना–निर्ग्रन्थ स्त्री, मादा–पशु या नपुंसक के आसन या शय्या को काम में न ले ।

इतने पर ही कह सकते हैं कि उसने महाव्रत का बराबर पालन किया ।

पांचवां महाव्रत–मैं सब प्रकार के परिग्रह (आसक्ति) का यावज्जीवन त्याग करता हूं । मैं कम या अधिक, छोटी या बड़ी सचित या अचित कोई भी वस्तु में परिग्रह बुद्धि न रखूं, न दूसरों से रखाऊं और न रखते हुए को अनुमति दूं । (आदि पहिले के अनुसार)

इस महाव्रत की पांच भावनाएँ ये हैं—

पहिली भावना–निर्ग्रन्थ कान से मनोहर शब्द सुन कर, उसमें आसक्ति राग या मोह न करें; इसी प्रकार कटु शब्द सुनकर द्वेष न करे क्योंकि ऐसा करने से उसके चित्त की शांति भंग होना और केवली के उपदेश दिये हुए धर्म से भ्रष्ट होना सम्भव है।

कान में सुनाते शब्द रोके नहीं जा सकते,
पर उनमें जो राग द्वेष ह, उसे भिक्षु त्याग दे।

दूसरी भावना–निर्ग्रन्थ आंख से मनोहर रूप देख कर उसमें आसक्ति न करे; कुरूप को देख कर द्वेष न करे।

आंख से दिखता रूप रोका नहीं जा सकता,
परन्तु उनमें जो रागद्वेष है उसे भिक्षु त्याग दे।

तीसरी भावना–निर्ग्रन्थ नाक से सुगन्ध सूंघ कर उसमें आसक्ति न करे; दुर्गन्ध सूंघ कर द्वेष न करे।

नाक में गंध आती रोकी नहीं जा सकती,
परन्तु उसमें जो रागद्वेष है, उसे भिक्षु त्याग दे।

चौथी भावना–निर्ग्रन्थ जीभ से सुस्वादु वस्तु चखने पर उसमें आसक्ति न करे, बुरे स्वाद की वस्तु चखने पर द्वेष न करे।

जीभ में स्वाद आता रोका नहीं जा सकता
परन्तु उसमें जो रागद्वेष है, उसे भिक्षु त्याग दे।

पांचवी भावना-निर्ग्रन्थ अच्छे स्पर्श होने पर उसमें आसक्ति न करे; बुरे स्पर्श होने पर द्वेष न करे।

त्वचा से होने वाला स्पर्श रोका नहीं जा सकता,
परन्तु उसमें जो रागद्वेष है, उसे भिक्षु त्याग दे।

इतना करने पर ही, कह सकते हैं कि उसने महाव्रत का बराबर पालन किया।

इन पांच महाव्रतों और इनकी पच्चीस भावनाओं से युक्त भिक्षु, शास्त्र, आचार और मार्ग के अनुसार उनको बराबर पाल कर ज्ञानियों की आज्ञा का आराधक सच्चा भिक्षु बनता है। [१७६]

सोलहवाँ अध्ययन

विमुक्ति*

सर्वोत्तम ज्ञानी पुरुषों के इस उपदेश को सुन कर, मनुष्य को सोचना चाहिये कि चारों गति में जीव को अनित्य शरीर ही प्राप्त होता है। ऐसा सोचकर बुद्धिमान मनुष्य घर के बन्धन का त्याग करके दोषयुक्त प्रवृत्तियाँ और (उनके कारणरूप) आसक्ति का निर्भय होकर त्याग करे।

इस प्रकार घरबार की आसक्ति और अनन्त जीवों की हिंसाका त्याग करके, सर्वोत्तम भिक्षाचर्या से विचरने वाले विद्वान् भिक्षु को, मिथ्यादृष्टि मनुष्य, संग्राम में हाथी पर लगने वाले तीरों के समान बुरे वचन कहते हैं, और दूसरे कष्ट देते हैं। इन वचनों और कष्टों को उठाते हुए, वह ज्ञानी, मन को व्यथित किये बिना सब सहन करे और चाहे जैसी आंधी में भी अकंप रहने वाले पर्वत के समान अडग रहे।

भिक्षु सुख दुःख में समभाव रखकर ज्ञानियों की संगति में रहे, और अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी ऐसे त्रस, स्थावर जीवों को अपनी किसी क्रिया से-परिताप न दे। इस प्रकार करने वाला और पृथ्वी के समान सब कुछ सहन कर लेने वाला महा मुनि श्रमण कहलाता है।

उत्तम धर्म-पद का आचारण करने वाला, तृष्णा रहित, ध्यान और समाधि से युक्त और अग्नि की ज्वाला के समान तेजस्वी ऐसे विद्वान् भिक्षु के तप, प्रज्ञा और यश वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

---

* यह अध्ययन चौथी चूडा है।

सब दिशाओं में रम कर, महान्, सब कर्मों को दूर करने वाले और अन्धकार को दूर कर प्रकाश के समान तीनों तरफ-ऊपर नीचे और मध्य में प्रकाशित रहने वाले महाव्रतों को सबकी रक्षा करने वाले अनन्त जिनने प्रकट किये हैं।

सब बंधे हुओं (आसक्ति से) में वह भिक्षु अबद्ध होकर विचरे, स्त्रियों में आसक्त न हो और सत्कार की अपेक्षा न रखे। इस लोक और परलोक की आशा त्यागने वाला वह पंडित काम भोगों में न फँसे।

इस प्रकार काम भोगों से मुक्त रह कर, विवेकपूर्वक आचरण करनेवाले इस धृतिमान और सहनशील भिक्षु के, पहिले किये हुए सब पापकर्म, अग्नि से चांदी का मैल जैसे दूर हो जाता है, वैसे ही दूर हो जाते हैं; विवेक ज्ञान के अनुसार चलने वाला, आकांक्षा रहित और मैथुन से उपरत हुआ वह ब्राह्मण, जैसे सांप पुरानी कांचली को छोड़ देता है, वैसे ही दुःखशय्या से मुक्त होता है।

अपार जलके समूहरूप महासमुद्र के समान जिस संसार को ज्ञानियों ने हाथों से दुस्तर कहा है। इस संसार के स्वरूप को ज्ञानियों के पास से समझ कर, हे पंडित, उसका तू त्याग कर। जो ऐसा करता है, वही मुनि (कर्मों का) 'अन्त करने वाला' कहा जाता है।

इस लोक और परलोक दोनों में जिसको कोई बन्धन नहीं है और जो पदार्थों की आकांक्षा से रहित निरालम्ब और अप्रतिबद्ध हैं, वही गर्भ में आने जाने से मुक्त होता है; ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ समाप्त ॥

सुभाषित

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे; से केयणं अरिहई पूरइ-त्तए। (३: ११३)

संसार के मनुष्यों की कामनाओं का पार नहीं है, वे चलनी में पानी भरने का प्रयत्न करते हैं।

कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ तिप्पई परितप्पई। (२:९२)

काम पूर्ण होना असम्भव है और जीवन बढाया नहीं जा सकता। कामेच्छु मनुष्य शोक किया करता है और परिताप उठाता रहता है।

आसं च छन्दं च विगिंच धीरे ! तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु जेण सिया तेण नो सिया। (२:८४)

हे धीर ! तू आशा और स्वच्छन्दता को त्याग दे। इन दोनों कांटों के कारण ही तू भटकता रहता है। जिसे तू सुख का साधन समझता है, वही दुःख का कारण है।

नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं तारणाए वा सरणाए वा। जाणित्तु दुखं पत्तेयसायं अण-भिकन्तं च खलु वयं संपेहाए खणं जाणाहि पंडिए जाव सोत्तपरिन्नाणेहिं अपरिहायमाणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवा-सेज्जासि—त्ति बेमि। (२: ६८–७१)

तेरे सगे-सम्बन्धी, विषय-भोग या द्रव्य-संपत्ति तेरी रक्षा नहीं कर सकते, और न तुझे बचा ही सकते हैं और तू भी उनकी रक्षा

नहीं कर सकता है और न उनको बचा सकता है। प्रत्येक को अपने सुख और दुःख खुद को ही भोगने पड़ते हैं। इस लिये, जब तक अवस्था मृत्यु के निकट नहीं है और कान आदि इन्द्रियों का बल और प्रज्ञा, स्मरणशक्ति आदि ठीक है तबतक अवसर जान कर बुद्धिमान मनुष्य को अपना कल्याण साध लेना चाहिये।

विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो। लोभं अलोभेण दुगुञ्छमाणे लद्धे कामे नो'भिगाहइ। (२:७४)

जो मनुष्य विषयों को पार कर गये हैं, वे ही वास्तव में मुक्त हैं। अकाम से काम को दूर करने वाले वे, प्राप्त हुए विषयों में लिप्त नहीं होते।

समयं मूढे धम्मं नाभिजाणइ। उयाहु वीरे अप्पमाओ महामोहे! अलं कुसलस्स पमाएणं सन्तिमरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए (२:८४)

कामभोगों में सतत मूढ रहने वाला मनुष्य धर्म को पहिचान नहीं सकता। वीर भगवान ने कहा है कि महामोह में बिलकुल प्रमाद न करे। शांति के स्वरूप और मृत्यु का विचार करके और शरीर को नाशवान् जान कर कुशल मनुष्य क्यों प्रमाद करे?

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं। सएण विप्पमाएणं पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणाए, एस परिन्ना पवुच्चइ कम्मोवसन्ती। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा। (२:८०,९६-७)

संयमी अपने अन्त समय तक युद्ध में आगे रहने वाले वीर के समान होता है। ऐसा मुनि ही पारगामी हो सकता है। किसी भी प्रकार के कष्ट से न घबराने वाला और अनेक दुःखों के आने पर भी पाट के समान स्थिर रहने वाला वह संयमी शरीर के अन्त तक काल की राह देखे पर घबरा कर पीछे न हटे; ऐसा मैं कहता हूं।

न सक्का फासमवेएउं फासं सयमागयं। रागद्दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिव्वए। (अ० १६)

इन्द्रियों के सम्बन्ध में आने वाले विषयको अनुभव न करना शक्य नहीं है, परन्तु उसमें जो रागद्वेष है, उसको भिक्षु त्याग दे।

उद्देसो पासगस्स नत्थि। कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के। से ज्जं च आरभे जंच नारभे। अणारद्धं च नारभे। छणं छणं परिन्नाय लोगसन्नं च सव्वसो। (२ : १०३)

जो ज्ञानी है उनके लिये कोई उपदेश नहीं है। कुशल पुरुष कुछ करे या न करे, उससे वह बद्ध भी नहीं है और मुक्त भी नहीं है। तो भी, लोक रुचि को बराबर समझ कर और समय को पहिचान कर वह कुशल पुरुष पूर्व के महापुरुषों के न किये हुए कर्मों को नहीं करता।

जमिणं अन्नमन्न-विइगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं किं तत्थ, मुणी कारणं सिया ? समयं तत्थु'वेहाए अप्पाणं विप्पसायए। (३ : ११५)

एक-दूसरे की लज्जा या भय से पाप न करने वाला क्या मुनि है ? सच्चा मुनि तो समता को समझ कर अपनी आत्मा को निर्मल करने वाला होता है।

अणगारे, उज्जुकडे नियागपडिवन्ने, अमायं कुव्वमाणे वियाहिए। जाए सद्धाए निक्खन्तो, तमेव अणुपालिया; वियहित्तु विसोत्तियं पणया वीरा महावीहिं। (१:१८-२०)

जो सरल है, मुमुक्षु है, और अदंभी है, वही सच्चा अनगार है। जिस श्रद्धा से मनुष्य गृहत्याग करता है, इसी श्रद्धा को आशंका और आसक्ति को त्याग कर, सदा स्थिर रखना चाहिये। वीर पुरुष इसी मार्ग पर चलते आये हैं।

विहसमाणे कुसलेहिं संवसे, अकंतदुःखी तसथावरा दुही।
अलूसएं सव्वसहे महामुणी, तहा हि से सुस्समणे समाहिए॥

सुख दुःख में समभाव रखकर ज्ञानी पुरुषों की संगति में रहे, और अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखी त्रस स्थावर जीवों को अपनी किसी क्रिया से परिताप न दे। ऐसा करने वाला, पृथ्वी के समान सब कुछ सहन करने वाला महामुनि उत्तम श्रमण कहलाता है। (अ० १६)

विउ नए धम्मपयं अणुत्तरं, विणीयतण्हस्स मुणिस्स झायओ।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पन्ना य जसो य वड्ढइ॥

उत्तम धर्म-पद का आचरण करने वाला, तृष्णारहित, ध्यान और समाधि से युक्त और अग्नि की ज्वाला के समान तेजस्वी विद्वान् भिक्षु के तप, प्रज्ञा और यश वृद्धि को प्राप्त होते हैं। (अ० १६)

तहा विमुक्कस्स परिन्नचारिणो, धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा॥

इस प्रकार कामभोगों से मुक्त रह कर, विवेक पूर्वक आचरण करने वाले उस धृतिमान और सहनशील भिक्षु के पहिले किये हुए सब पापकर्म अग्नि से चांदी का मैल जैसे दूर हो जाता है, वैसे ही दूर हो जाते हैं।(अ०१६)

जंमि लोए परए य दोसुवि, न विज्जई बंधण जस्स किंचिवि।
से हु निरालंवणमप्पइट्ठिए, कलंकलीभावपहं विमुच्चई॥ त्तिबेमि॥

इस लोक और परलोक दोनों में जिसको कोई बन्धन नहीं है, और जो पदार्थों की आकांक्षा से रहित 'निरालम्ब' और अप्रतिबद्ध है, वह गर्भ में आने-जाने से मुक्त होता है; ऐसा मैं कहता हूं। (अ० १६)